कर्म की गति न्यारी

प्रवचनकार एवं लेखक:- पू. मुनिराज श्री अरुणविजयजी महाराज

चातुर्मासिक रविवासरीय सचित्र व्याख्यानमाला

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ आत्मानंद सभा भवन, जयपुर

आ. श्री. कैलाससागर सूरि ज्ञान मंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र कोबा

आवृती : १०००

मूल्य : सदुपयोगार्थ १)

दशवैकालिक सूत्र के आधार पर

१. **धर्म** सर्वोत्तम मंगल है। अहिंसा संयम और तप धर्म का स्वरूप है। ऐसे धर्म में जिसका मन सदा लीन रहता है, उनको देवता भी नमस्कार करते हैं।

२. **इच्छा** आकाश जैसी अनन्त है। अतः जहाँ इच्छा, तृष्णा या वासना है वहाँ अतृप्ति, शोक और खेद है।

३. **त्याग** जितना व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास में सहायक है उतना ही समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए उपकारक है।

४. सद्धर्म का आचरण करने का फल **मोक्ष प्राप्ति** है। कर्म बंधन से सर्वथा मुक्त हुए बिना कोई जीवात्मा मोक्ष सुख नहीं प्राप्त कर सकता।

५. जिस प्रकार कायिक संयम साधक के लिए अनिवार्य ओर आवश्यक है, उसी प्रकार **वचन शुद्धि** भी साधक के लिए आवश्यक है।

६. क्षमा, समानता, नम्रता रखना, बैरी को भी वल्लभ गिनना, अन्य के दुर्गुधों को उपेक्षा करना, स्वावलम्बी और संयमी बनना और त्याग करना—ये महान **सद्गुण** है।

७. क्रोध, मूर्खता, अभिमान, कुवचन, माया—ये सज्जनता के शत्रु हैं। ये दुर्गुण सच्चे **विनय भाव** को उत्पन्न नहीं होने देते जिससे जीवात्मा दुःख खेद, क्लेश, शोक और वैर विरोध में सडता रहता है। उसको शांति प्राप्त नहीं होती।

८. मनुष्य जिसके परिचय में आता है, जिसकी गुलामी करता है, जिसकी पूजा करता है, वैसा ही उसका मन और उसके विचार बनते हैं और अन्त में वह वैसा ही बन जाता है। संसर्ग का असर अवश्य पड़ता है। अतः महापुरुषों ने सत्पुरुषों के संग का अपार महात्म्य बताया है।

नम्र सूचन

इस ग्रन्थ के अभ्यास का कार्य पूर्ण होते ही नियत समयावधि में शीघ्र वापस करने की कृपा करें.

छठा प्रवचन—६

"दर्शन और दर्शनावरणीय कर्म"

परम पूजनीय, परम आदरणीय-बन्दनीय, नमस्करणीय, परमपिता परमात्मा हावीरस्वामी के चरणारविन्द में अनन्तशः नमस्कार पूर्वक·······

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।।

(उत्तरा. अ. २८. श्लो. ११)

पवित्र जिनागम श्री उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्ष मार्ग गति नामक २८वें यन के प्रस्तुत श्लोक में आत्मा का लक्षण बताते हुए फरमाया है कि—ज्ञान, . चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग ये जीव के प्रमुख लक्षण हैं। लक्षण भेदक है। अतः दो के बीच में भेद दर्शाने की तथा अपना स्वरूप बताने का काम है।

लक्षण वस्तु के स्वरूप को प्रकट करता है। समस्त बह्माण्ड में मूलभूत द्रव्य है। १. जीव २. अजीव।

द्रव्य

जीव (चेतन) | अजीव (जड़)

लक्षण भेद से ही जीव और अजीव भिन्न-भिन्न कहलाते हैं। वस्तुगत गुणों को लेकर ही लक्षण बनता है, अतः पदार्थ के मूलभूत गुण ही एक- भेदक होते हैं। जीव, द्रव्य, ज्ञान, दर्शन आदि गुणवान है, और अजीव न, दर्शन आदि रहित वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि गुणवान हैं। अतः जीव द्रव्य , दर्शन आदि गुण अजीव द्रव्य में नहीं है। उसी तरह अजीव द्रव्य के वर्ण,

। गति न्यारी

गंध रसादि गुण जीव द्रव्य में नहीं है। अतः दोनों पृथक-पृथक गुणवान् स्वतन्त्र द्रव्य हैं। जीव के ज्ञानादि गुण अजीव द्रव्य में संक्रमित नहीं होते हैं। वैसे ही अजीव द्रव्य के वर्णादि गुण भी जीव में संक्रमित नहीं होते है। कोई भी अजीव एवं पुद्गल पदार्थ ज्ञान-दर्शनादि गुणवान् कभी भी नहीं होगा।' "न भूतो न भविष्यति अर्थात् कोई भी पुद्गल पदार्थ भूतकाल में ज्ञानादि गुणवान नहीं हुआ था, और भविष्य में कभी भी नहीं होगा। जहाँ-जहां ज्ञान, दर्शनादि गुणों की बात आएगी, वहां जीव द्रव्य के ही गुण समझने चाहिए।

द्रव्य श्रयि गुण

"गुण-पर्यायवद् द्रव्यम्।"

यह सूत्र पूज्य उमास्वाति महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में देकर द्रव्य का स्वरूप कैसा होता है, यह बताया है। गुण और पर्याय वाला ही द्रव्य होता है, अर्थात् द्रव्य-गुण और पर्यायों का समूह पिण्ड है। गुण रहित द्रव्य स्वतन्त्र नहीं रहता है, उसी तरह द्रव्य रहित गुण भी स्वतन्त्र नहीं रहता है। चूंकि गुण द्रव्याश्रयि ही होते हैं इसलिए द्रव्य को छोड़ कर गुण नहीं रह सकते हैं। द्रव्य गुणों का आधार स्थान है कि उसमें आधेय रूप से गुण रहते हैं। अतः द्रव्य से भिन्न गुण के अस्तित्व की स्वतन्त्र कल्पना करना असम्भव है। वैसे ही द्रव्य की सर्वथा गुण रहित कल्पना करनी असम्भव है। अतः गुण एवं पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है, और द्रव्य गुण पर्याय से युक्त होता है।

उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर श्लोक में दर्शाए गए ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि जो गुण हैं उनका आश्रयि एवं आधारभूत द्रव्य जीव है। जीव द्रव्य और ज्ञानादि गुण है। जीव द्रव्य को छोड़कर ज्ञान-दर्शनादि गुण का अन्यत्र कहीं भी रहना सम्भव नहीं है। जिस तरह ज्ञान-दर्शनादि गुण जीव द्रव्य को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से कहीं भी नहीं रह सकते हैं, उसी तरह जीव द्रव्य भी ज्ञानादि गुणों को छोड़कर उनके बिना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकता है। अतः ज्ञान-दर्शनादि गुण जीव द्रव्य में रहते हैं और जीव द्रव्य ज्ञान-दर्शनादि गुणवान् होता है। इस लिए जीव द्रव्य को समझने के लिए तदाश्रयि ज्ञानादि गुणों को पहले समझना अनिवार्य होता है।

ज्ञान दर्शनादि गुणों का स्वरूप

गुण सार्थक होते हैं, अर्थात् गुण स्वयं अपना अर्थ रखते हैं। अतः ज्ञान-दर्शनादि गुणों का अपना निश्चित अर्थ है। यहां ज्ञान का अर्थ है—जानना, दर्शन का अर्थ है देखना, चारित्र का अर्थ है अपने मूलभूत स्व-स्वरूप में रहना, तप का अर्थ है आहारादि पर–पुद्गल पदार्थ से अलिप्त रहना, वीर्य का अर्थ है स्वयं जीव का अनन्त शक्तिमान् रहना, उपयोग का अर्थ है जीव का ज्ञान-दर्शनादि चेतनामय रहना। इस तरह श्लोकगत् छः ही गुण अर्थवान्–सार्थक है। जीव द्रव्य ज्ञान-दर्शनादि गुणों से अभिन्न है, अतः ये सभी अर्थ जीव द्रव्य के कहलाएंगे। जीव द्रव्य सक्रिय है, अतः जीव अपनी सारी क्रिया अपने गुणों के आधार पर ही करता है। स्व गुणानुरूप क्रिया करना द्रव्य का कार्य है। कार्य क्रिया से जन्य होता है। इसलिए जीव का कार्य अपने गुणों की क्रिया के आधार पर ही होगा। गुण ज्ञान-दर्शनादि है, अतः उनकी क्रिया का करने वाला कर्त्ता जीव द्रव्य है। अतः जानना, देखना आदि जीव का कार्य है। व्याकरण के अनुसार क्रिया करने वाला कर्त्ता होता है। क्रिया हो तो निश्चित ही उसका कर्त्ता होता है। क्योंकि बिना कर्त्ता के क्रिया नहीं हो सकती है। जानना, देखना आदि क्रिया है अतः उनका कर्त्ता तद्-गुणवान् जीव द्रव्य है। अतः जानना, देखना आदि जीव का मूलभूत स्वभाव-कार्य है। जीव के गुण क्रिया कार्य एवं स्वभावादि ज्ञान-दर्शनादि रूप होने से वह ज्ञाता द्रष्टा कहलाता है।

ज्ञाता-द्रष्टा जीव

ज्ञान गुण है। ज्ञान गुण की क्रिया "जानना" है। इस "जानने" की क्रिया का कर्त्ता—'ज्ञाता" आत्मा है। दर्शन गुण है। देखना यह क्रिया हैं। देखने की क्रिया का कार्य "दर्शन" करने वाला कर्त्ता—"द्रष्टा" जीव है। अतः आत्मा मुख्य रूप से ज्ञाता-द्रष्टा है। ज्ञाता-द्रष्टा भाव आत्मा का प्रमुख स्वरूप है। अजीव द्रव्य में न तो ये गुण हैं और न ही यह क्रिया है। अतः पुद्गल एवं अजीव द्रव्यादि पदार्थ ज्ञाता-द्रष्टा भाववान् नहीं है।

सवाल यह खड़ा होता है कि—व्यवहार में लोग कहते हैं कि—आंख देखती है, कान सुनता है, मन जानता है, जीभ चखती है; नाक सूंघता है, त्वचा स्पर्श करती है, इत्यादि। तो फिर जीव देखता है, जानता है, यह कैसे सही हो सकता है? व्यवहार के क्षेत्र में लोग ऐसी अनुभूति करते हैं, परन्तु आत्मा देखती है,

जानती है, आदि अनुभूति क्या नहीं करते हैं ? सही क्या समझना ? बात ठीक है, उपरोक्त कर्त्ता-क्रिया के नियमानुसार विचार किया जाय तो देखना, जानना, सुनना, चखना आदि क्रियाएं हैं, अतः इन क्रियाओं का कर्त्ता कोई होना ही चाहिए। अब रहा प्रश्न कर्त्ता का। कर्त्ता किसे मानें ? आंख को या आत्मा को। भाषा के दृष्टिकोण से यदि किसी को भी पूछा जाय कि—"आंख देखती है, या आंख से देखते हैं ? कान सुनता है या कान से सुनते हैं ? जीभ चखती है या जीभ से चखते हैं ? इत्यादि। सोचिए ! कौन सी भाषा सही लगती है ? यदि आंख ही देखती होती तो मृत शरीर (शव) की आंख भी देखती। अर्धनिमिलित आंख अर्थात् आधी आंख खुली रखकर सोने वाला भी सब कुछ देखता, या आंख स्वतन्त्र रूप में बाहर पड़ी-पड़ी भी देख लेती। वैसे ही कान भी स्वतन्त्र रूप से सुन लेता, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। मृत-शरीर के आंख, नाक, कानादि अंग होते हुए भी नहीं देखता है, नहीं सुनता है, इत्यादि। क्योंकि मृत-शरीर जड़ है, अजीव है और अजीव में ज्ञाता-द्रष्टा भाव नहीं है। वह न तो देखता है और न ही सुनता है। आंख देखती है के बजाय आंख से देखते हैं, कान सुनता है के बजाय कान से सुनते हैं, नाक सूंघता है के बदले नाक से सूंघते हैं यह भाषा ज्यादा शुद्ध है। उसी तरह मन सोचता है के बदले मन से सोचते हैं यह भाषा शुद्ध-सही एवं आत्म-सिद्धि की पुष्टिकारक है। यहां करण अर्थ में "से" शब्द से क्रिया का कर्त्ता जीव (आत्मा) सिद्ध होता है। अतः मुख्य रूप से देखना, जानना, सुनना, सोचना आदि क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा ही कहलाएगी। इसलिए जानने, देखने वाला ज्ञाता-द्रष्टा भाववान् कर्त्ता आत्मा ही ही है। इन्द्रियां और मन सहायक साधन हैं, माध्यम है जिनके द्वारा आत्मा अपनी जानने-देखने आदि की क्रिया करती है।

दर्शन शब्द के विविध अर्थ

शब्द अनेकार्थ होते हैं। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार "दृश-प्रेक्षणे" इस धातु से देखने अर्थ में "दर्शन" बना है। यह शब्द क्रिया सूचक है। अतः यह देखना क्रिया है। अंग्रेजी में दर्शन शब्द से "VISION" अर्थ भी लिया जाता है। दृश्यमान पदार्थ से दृश्य अर्थ में "VISION" कहते हैं। दर्शन क्रिया सूचक से दर्शनीय अर्थात् देखने योग्य पदार्थ भी लिए जाते हैं। और भी क्रिया-कर्म सूचक कई अर्थ इस प्रकार हैं - "शब्दचिन्तामणि" आदि कोषगत विविध अर्थ—

चक्षुरक्षीक्षणं नेत्रं, नयनं दृष्टिरम्बकम्।
लोचनं दर्शनं दृक् च, तत्तारा तु कनीनिका॥ अभिधान कोष ३/२३९

अभिधान कोष के तृतीय मर्त्यकांड में दर्शन के चक्षु, देखना, नेत्र, नयन, दृष्टि, अम्बक, लोचन, दर्शन, आंख की तारा तथा कनीनिकादि कई अर्थ होते हैं।

दर्शनं दर्पणे धर्मोपलब्ध्योर्बुद्धि–शास्त्रयोः।
स्वप्न–लोचनयोश्चापि, दशनं वर्म–दंशयोः॥

अनेकार्थ संग्रह ग्रंथ में पूज्य हेमचन्द्राचार्यजी ने दर्शन के विविध अर्थ बताए हैं।

(१) "दृशं—प्रेक्षणे"—से दर्शन, To See। (२) दर्शन = देखना। (३) दर्शन = दर्शन शास्त्र। (४) दर्शन = तत्त्वज्ञान–PHILOSOPHY। (५) दर्शन = दृश्य—VISION। (६) दर्शन = परमात्म दर्शन (क्रिया अर्थक)। (७) दर्शन = श्रद्धा। (८) दर्शन = दर्पण। (९) दर्शन = दृष्टि, घाव, उपदेश, स्वप्न, धर्म सम्बन्धी ज्ञान, बुद्धि-अक्कल, सांख्य, न्याय-वैशेषिक-बौद्ध-जैन-चार्वाक आदि "षड्दर्शन", मन, दर्शन शास्त्र तथा सम्यग् दर्शन = श्रद्धा आदि अनेकार्थों में "दर्शन शब्द है।

इस तरह भिन्न-भिन्न अनेक अर्थों में दर्शन शब्द का प्रयोग होता हैं।

दर्शन—सीमित और अनन्त

देखने की क्रिया का कार्य दर्शन प्रत्येक कर्त्ता के ऊपर अवलम्बित रहता है। अर्थात् कर्त्ता आत्मा को देखने की शक्ति कितनी विकसित हुई है उसके आधार पर कम ज्यादा देखेगा। यदि दर्शन की शक्ति कर्मों के आवरण से कुण्ठित है तो वह कम देखेगा, और यदि दर्शन की शक्ति कर्मावरण रहित है तो वह अनन्त एवं असीमित देखेगा। दर्शन क्रिया के कर्त्ता जीव दो प्रकार के हैं—१. कर्मावरण-ग्रस्त जीव = सकर्मी जीव, २. कर्मावरण रहित जीव = निष्कर्मी जीव। उदाहरण के लिए समझिए कि – हम आकाश में चन्द्र या सूर्य देख रहे हैं। चन्द्र और हमारी दृष्टि के बीच के दृष्टिपथ में यदि कोई आवरण आता है तो चन्द्र दिखाई नहीं देगा। यदि आवरण हल्का-पतला सा होगा तो चन्द्र धुंधला एवं अस्पष्ट दिखाई देगा। आवरण चन्द्र पर भी हो सकता है, और दृष्टिपथ के बीच में भी हो सकता है तथा आंखों में मोतीबिन्दु की तरह भी हो सकता है ये हुए बाह्यावरण। जैसे बाह्यावरण के कारण भी वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती, ठीक वैसे ही आन्तरिक या आभ्यांतरिक आवरण भी होता है। वह भी बाधक बनता है। बाह्यावरण बादल कपडा या मोतीबिन्दु आदि होता है, वैसे ही आभ्यंतर आवरण आत्मा के दर्शन गुण पर लगे हुए दर्शनावरणीय कर्म का होता है। जैसा काम बाह्यावरण करते हैं

ठीक वैसा ही काम आभ्यंतर आवरण दर्शनावरणीय कर्म करता है। अर्थात् कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु का बना हुआ पिंड दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन गुण पर छाकर आत्मा की देखने की शक्ति को कम करने का या ढकने का काम करता है अतः एक जीव जो दर्शनावरणीय कर्म के आवरण से दबा हुआ है, वह जो कुछ देखेगा, सीमित एवं मर्यादित देखेगा। अतः उसका दर्शन सीमित-मर्यादित कहलाएगा, जबकि दूसरा जीव जो दर्शनावरणीय कर्म के आवरण से सर्वथा रहित है उसका दर्शन अमर्यादित—असीमित—अपरिमित अनन्त दर्शन कहलाएगा, क्योंकि द्रष्टा आत्मा कर्मावरण से रहित है। उस समय वह आत्मा अपनी दर्शन शक्ति से स्वयं जो कुछ देखेगी वह अनन्त दर्शन रूप में देखेगी।

आत्मा का गुण "अनन्त दर्शन"

मूलभूत शुद्ध द्रव्य आत्मा जो सर्व कर्मावरण रहित है उसके गुण एवं शक्ति असीमित-अनन्त होते हैं। अलोकाकाश अनन्त है और लोकाकाश क्षेत्र सात हैं। लोकाकाश के बाहर जो अलोकाकाश अन्त रहित अनन्त है जिसकी कोई सीमा एवं अवधि नहीं है, ऐसे अनन्त अलोकाकाश के क्षेत्र में क्या है और क्या नहीं है, यह भी अनन्तदर्शनी आत्मा देखकर ही कहती है।

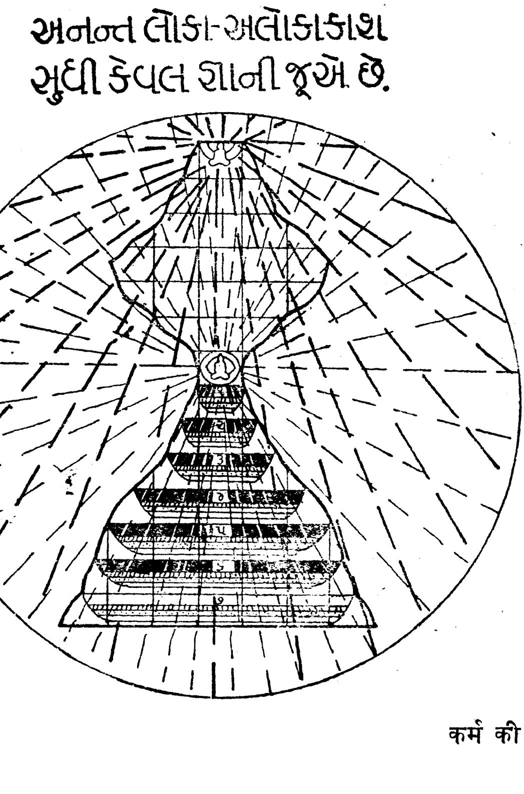

उदाहरण के लिए मानों कि—पिता ने पुत्र को अपने गांव से एक वस्तु लाने के लिए कहा। पुत्र गांव गया। उस वस्तु के लिए पूरी छानबीन की, परन्तु वस्तु नहीं मिली। अतः पुनः आकर पुत्र ने पिता से कहा कि वस्तु गांव में नहीं है। इस बात से यह निश्चित होता है कि वस्तु है या नहीं है, यह कहने के लिए भी हमें वस्तु क्षेत्र में जाकर देखना पड़ता है, तब ही निर्णय कर पाते हैं कि वस्तु है या नहीं है। बिना देखे हम निर्णय नहीं कर पाते, और अपने घर बैठे दूर गांव में या वस्तु के क्षेत्र में नहीं देख पाते हैं, क्योंकि हम कर्मावरणग्रस्त हैं। हमारी शक्ति दर्शनावरणीय कर्म से दबी हुई है। अतः एक स्थान में बैठे हुए दूर स्थान की वस्तु देखना मुश्किल है। दर्शनावरणीय कर्मावरणग्रस्त जीव इन्द्रियों को सीमित एवं मर्यादित शक्ति से देखता है। वह सीधे आत्मा से नहीं देख पाता है। दूसरे प्रकार का जीव जो दर्शनावरणीय कर्म से रहित है वह बिना किसी इन्द्रियों के सीधे आत्मा से देख सकता है। सीधे आत्मा से देखने को "आत्मदर्शन" कहते हैं। यही अनन्त दर्शन या केवल दर्शन कहलाता है। यह केवल दर्शन अनिन्द्रिय, असीमित, अमर्यादित एवं अपरिमित अनन्त होता है। चित्र में दर्शाए अनुसार अनन्त ज्ञानी अनन्तदर्शनी अर्थात् केवल–ज्ञानी–केवलदर्शनी आत्मा लोक और अनन्त अलोक को भी देखती और जानती है। ज्ञान से जानना और दर्शन से देखना होता है। जानना और देखना यह क्रिया साथ में होती है, अतः ज्ञान और दर्शन साथ में रहते हैं। अनन्त अलोक में क्या है और क्या नहीं है यह केवलज्ञानी–केवलदर्शनी सर्वज्ञ आत्मा देखकर ही बताती है। अतः उन्होंने देखा-जाना फिर जगत को बताया। सर्वज्ञ विभु ने बताया कि अनन्त अलोकाकाश में सिर्फ आकाश ही आकाश है, परन्तु आकाश के सिवाय अन्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव या पुद्गल आदि कोई द्रव्य नहीं है। आकाश है और अन्य द्रव्य नहीं है—यह भी अनन्त ज्ञानी–अनन्त दर्शनी आत्मा ने देखकर ही बताया है। तथा चौदह राजलोक परिमित लोकाकाश के क्षेत्र में भी आकाश वही है जो अलोक में है, ओर साथ में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अनन्त जीव, एवं अनन्त पुद्गल पदार्थ नहीं है, यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी ने देखकर और जानकर ही बताया है। समस्त लोक या अलोक को देखना या जानना यह इन्द्रियों से सम्भव नहीं है। यह तो सीधे आत्मा से ही देखना होता है। केवलज्ञानी "सर्वज्ञ" कहलाते हैं और केवलदर्शनी–'सर्वदर्शी" कहलाते है। अनन्तज्ञानी–अनन्तदर्शनी, केवलज्ञानी—केवलदर्शनी, सर्वज्ञ–सर्वदर्शी ये सभी शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। केवलज्ञानी अर्थात् अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ महापुरुष, इन्द्रियों के बिना सीधे आत्मा से जानते हैं। उसी तरह अनन्तदर्शनी–केवलदर्शनी–सर्वदर्शी आत्मा बिना इन्द्रियों के सीधे आत्मा से देखती है। अतः केवलज्ञानी–केवलदर्शनी

ही आत्मज्ञानी–आत्मद्रष्टा कहलाते हैं। अन्य सभी तद्-तद् कर्मावरणग्रस्त छद्मस्थ जीव आत्मज्ञाता–आत्मद्रष्टा नहीं कहलाते। वे इन्द्रियों से जानने एवं देखने वाले इन्द्रियजन्य–ज्ञानज्ञाता, इन्द्रियजन्यदर्शन–द्रष्टा कहलाते हैं।

इन्द्रियों से जानना व देखना

- दर्शन
  - इन्द्रियों से दर्शन
    - चक्षुदर्शन
    - अचक्षुदर्शन
  - सीधे आत्मा से दर्शन
    - अवधिदर्शन
    - केवलदर्शन

ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीयादि कर्मों से ग्रस्त छद्मस्थ संसारी आत्मा इन्द्रियों के द्वारा ही जानने-देखने आदि का व्यवहार करती है, क्योंकि छद्मस्थ संसारी आत्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुण तथा प्रकार के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों के भार से दब चुके, ढक चुके हैं। ऐसी संसारी आत्मा संसार में शरीर के बिना तो रह ही नहीं सकती है। उसे किसी न किसी शरीर में ही रहना पड़ता है। इसलिए संसारी आत्मा देहधारी कहलाती है। मकान के खिड़की-दरवाजे की तरह शरीर में इन्द्रियां हैं जो खिड़की-दरवाजे का काम करती हैं। मकान में जैसे खिड़की-दरवाजों से हवा-प्रकाशादि आता है, वैसे ही देहधारी आत्मा में शरीर के खिड़की-दरवाजे रूप इन्द्रियों से ज्ञेय-दृश्य आत्मा में (अन्दर) आते हैं। इन्द्रियां ५ (पांच) हैं। पांचों इन्द्रियों का काम आत्मा तक ज्ञेयमान-दृश्यमान पदार्थों का ज्ञान-दर्शन पहुँचाना है। कर्मावरण के कारण आत्मा का स्वयं का पूर्ण ज्ञाता-द्रष्टाभाव दबा हुआ (आच्छन्न) होने के कारण आत्मा इन्द्रियों की सीमित शक्ति से सीमित ही जानने-देखने का काम करती है। अतः ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव होते हुए भी, आत्मा ज्ञान-दर्शन पूर्ण न करते हुए, ईन्द्रियों से अपूर्ण एवं अल्प ज्ञान-दर्शन प्राप्त करती है।

- इन्द्रियां
  - इन्द्रियां
    - (१) स्पर्शेन्द्रिय
    - (२) रसनेन्द्रिय
    - (३) घ्राणेन्द्रिय
    - (४) चक्षुइन्द्रिय
    - (५) कर्णेन्द्रिय
  - अतिन्द्रिय (अनीन्द्रिय)
    - मन

संसार में मूलभूत दो पदार्थ हैं — १, जीव २. अजीव। संसार में जीव अजीव संयोगी द्रव्य है, अर्थात् एक दूसरे के साथ एक दूसरे का संयोग-वियोग होता रहता है। जीव अजीव का संयोग-वियोग ही संसार है। अजीव में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश एवं काल के अतिरिक्त पांचवा पुद्गल पदार्थ भी है। पुद्गल की पर्यायें अनन्त है। पुद्गल में जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि का स्वरूप पड़ा हुआ है उसे ग्रहण करने के लिए आत्मा अपनी इन्द्रियां उस-उस विषय वाली बनाती है। पुद्गल पदार्थ के वर्ण अर्थात् रूप-रंग को देखने के लिए जीव ने चक्षु इन्द्रिय बनाई। चक्षु इन्द्रिय से जीव लाल, नीला, पीला, हरा आदि रूप रंग देखता है। पुद्गल पदार्थ में रही हुई सुगन्ध-दुर्गंध को जीव ने घ्राणेन्द्रिय (नाक) से ग्रहण की। पुद्गल पदार्थ में रहे हुए तिक्त, कटु, खारा, मीठा, खट्टा आदि रस ग्रहण करने के लिए जीव ने रसनेन्द्रिय-जिह्वा इन्द्रिय का उपयोग किया है। पुद्गल पदार्थ के हल्का-भारी, मृदु-कर्कश, ठण्डा-गरम तथा कोमल-कठोर (स्निग्ध-रूक्ष) आदि स्पर्शों को ग्रहण करने के लिए जीव ने स्पर्शेन्द्रिय-चमड़ी बनाई। ध्वनि एवं शब्द को ग्रहण करने के लिए जीव ने श्रवणेन्द्रिय कान बनाया। इस तरह जीव ने पुद्गल पदार्थ के वर्ण, गंध रस, स्पर्शादि स्वरूप को अपने ज्ञान का विषय बनाने के लिए इन्द्रियों का उपयोग किया। आत्मा तक ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान पहुँचाने के लिए डाकिए की तरह काम किया। अत: ये इन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियां कहलाती हैं। ज्ञाता-द्रष्टास्वभाववान् स्वयं आत्मा होते हुए भी स्वगुण घातक कर्म से दबी हुई होने के कारण आत्मा ने ज्ञान प्राप्ति के कार्य में इन्द्रियों की सहायता ली। अत: ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा ज्ञान-दर्शन का अर्थात् जानने, देखने का काम इन्द्रियों की मदद से करने लगी। इन्द्रियां जानने-देखने का काम कराती हैं, क्योंकि सभी ज्ञान व्यवहारी है।

कर्मशास्त्रकारों ने ज्ञान-दर्शन के कार्य के आधार पर इन्द्रियों के दो विभाग किए है। १. चक्षु दर्शन, २. अचक्षु दर्शन।

- दर्शन
  - चक्षु दर्शन
    - आंख से देखने का कार्य
      - चक्षु इन्द्रिय दर्शन
  - अचक्षु दर्शन
    - स्पर्शेन्द्रिय दर्शन
    - रसनेन्द्रिय दर्शन
    - घ्राणेन्द्रिय दर्शन
    - श्रवणेन्द्रिय दर्शन

अचक्षु दर्शन शब्द प्रयोग करने से चक्षु के अतिरिक्त चारों इन्द्रियां ली है। इस तरह पांचों ही इन्द्रियां आत्मा तक दृश्य भेजती हैं। आत्मा को पदार्थों का दर्शन कराने का काम करती है। दर्शन (देखने) से ज्ञान होता है।

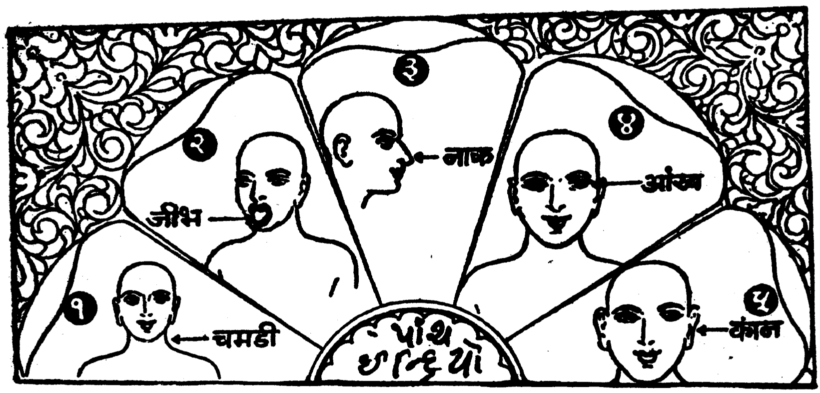

इन्द्रियों से ज्ञान या दर्शन ?

प्रश्न यह उठता है कि—इन्द्रियों से ज्ञान होता है या दर्शन होता है ? इन्द्रियां ज्ञान कराती है या दर्शन कराती है ? इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय कहें या दर्शनेन्द्रिय ? चिन्तक ज्ञानी ही इस विषय में स्वयं चिन्तन करें। विचार करने पर ऐसा लगता है कि—आत्मा स्वयं ज्ञान-दर्शन आदि युक्त ज्ञाता-द्रष्टा भाववान हैं। यदि आत्मा स्वयं कर्म रहित होती तो बिना इन्द्रियों की मदद से ही स्वयं अनन्त ज्ञान-दर्शन गुण से अनन्त पदार्थों का पूर्ण सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन कर लेती। परन्तु ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीयादि कर्म ग्रस्त आत्मा कर्मावरण के कारण अनन्त ज्ञान-दर्शन नहीं कर पाती है। वह इन्द्रियों की मदद से ही ज्ञेय-दृश्यमान पदार्थों का ज्ञान-दर्शन करती है। अतः इन्द्रियां आत्मा के लिए ज्ञान सहायक होने के कारण ज्ञानेन्द्रियों कहलाती है। ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियां स्वयं नहीं करती है, क्योंकि ज्ञान करना यह

आत्मा का काम है। आत्मा ही ज्ञानवान चेतन द्रव्य है, और इन्द्रिया जड़ है। जड़ ज्ञानवान नहीं होता है। आत्मा इन्द्रियों की सहायता से ज्ञेय पदार्थो का ज्ञान करती है, वैसे ही दर्शन भी करती है। अतः ज्ञान-दर्शन करना यह इन्द्रियों का नहीं, अपितु आत्मा का काम है। ज्ञाता-द्रष्टागुणवान् आत्मा है न कि इन्द्रियां।

इन्द्रियां उसमें डाकिए की तरह सहायक बनती है। वे पदार्थ के वर्ण, गंध आदि को दिखा देगी। परन्तु आगे ज्ञान आत्मा ही करेगी। उदाहरण के लिए समझिए कि—आंख ने एक व्यक्ति को देखकर उसके रूप-रंगादि को आत्मा तक पहुँचाया। परन्तु वह पुत्र है, या पिता है चाचा है या मामा इत्यादि विशेष भेद ज्ञान आत्मा ही करेगी। आंख से एक वृक्ष देखा। वृक्ष के फल, फूल पत्ते आदि रूप-रंग आंख ने आत्मा तक पहुँचाने का काम किया। परन्तु यह वृक्ष किसका है ? आम का या चीकू का ? नींबू का है या सन्तरे का ? यह भेद ज्ञान एवं निर्णय आत्मा ही करेगी। वैसे ही आत्मा तक शब्द-ध्वनि पहुँचाने का काम कर्णेन्द्रिय करती है, परन्तु सुनकर हर्ष-शोकादि का निर्णय आत्मा ही करती है। उसी तरह घ्राणेन्द्रिय गंध, रसनेन्द्रिय खट्टा-मीठादि रस, स्पर्शेन्द्रिय ठण्डा-गरमादि स्पर्श आत्मा तक पहुँचाने का काम करती है, और विशेष निर्णय आत्मा ही करती है। इस प्रकार पांच इन्द्रियां २३ प्रकार के विषय आत्मा तक पहुँचाती है। और आत्मा उनका ज्ञान-दर्शनादि करती है।

क्रम.	इन्द्रियां	स्थान	विषय	भेद	ज्ञान-दर्शनादि
१.	स्पर्शेन्द्रिय	चमड़ी	स्पर्श	८	ठण्डा-गरमादि
२.	रसनेन्द्रिय	जीभ	रस	५	खट्टे-मीठे आदि
३.	घ्राणेन्द्रिय	नाक	गंध	२	सुगंध-दुर्गंधादि
४.	चक्षुरेन्द्रिय	आंख	वर्ण	५	लाल, नीले आदि
५.	कर्णेन्द्रिय	कान	ध्वनि	३	जड़-चेतनादि की
				२३	

इस तरह पांचों इन्द्रियां २३ विषयों का ज्ञान-दर्शन स्वयं न करती हुई आत्मा को कराने में सहायता करती है।

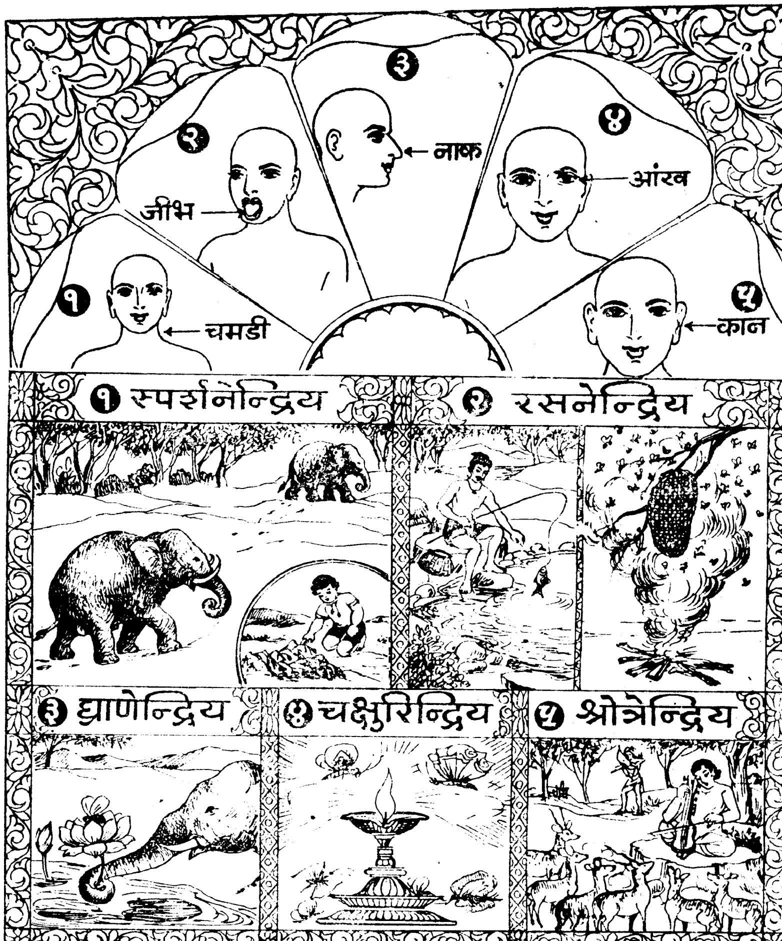

चक्षु अचक्षु दर्शन

कर्मग्रन्थकार महर्षि ने कर्मग्रन्थ में दर्शनावरणीय कर्म में चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन ये दो भेद बताये हैं। इसका अर्थ बताते हुए लिखा है कि—१. चक्षुदर्शन यहां चक्षु = अर्थात् आंखे—नेत्र, और अचक्षु शब्द में "अ" अक्षर निषेधार्थक है, अर्थात् चक्षु नहीं परन्तु चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां यह अर्थ किया है। इस तरह चक्षु अचक्षु इन दो विभागों में पांचों इन्द्रियां विभाजित की हैं।

इन्द्रियों से दर्शन

- चक्षु दर्शन (आंख से)
- अचक्षु दर्शन
  - स्पर्शेन्द्रिय
  - रसनेन्द्रिय
  - घ्राणेन्द्रिय
  - श्रवणेन्द्रिय

प्रश्न यहां यह उठता है कि चक्षु दर्शन कहा यह तो ठीक है क्योंकि आंखों से देखना होता हैं इसलिए आंखों से देखने के कारण चक्षु दर्शन कहा यह योग्य है। परन्तु अचक्षुदर्शन कैसे योग्य है ? क्योंकि अचक्षु अर्थात् चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से देखना नहीं होता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि—चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों से भी जिन पुद्गल पदार्थों के स्पर्श-रसादि विषयों को आत्मा तक पहुँचाया जाता है, वह भी आत्मा के लिए ज्ञान-दर्शन-कारक ही बना। यद्यपि चक्षु इतर इन्द्रियों से आंख की तरह देखना नहीं होता है, फिर भी स्पर्श-रसादि का अनुभव ज्ञान-दर्शनात्मक होता है। अतः चक्षु एवं अचक्षु दर्शन कहना उचित है। आंख देखने के माध्यम से वर्णादि (रंग-रूप) विषयों को आत्मा तक पहुँचाती है। कान सुनने के माध्यम से शब्द-ध्वनि को आत्मा तक पहुँचाता है। नाक सूंघने के माध्यम से गंध के विषय को आत्मा तक पहुँचाता है। जीभ चखने के माध्यम से खट्टे-मीठे रस के विषयों को आत्मा तक पहुँचाती है। स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा स्पर्श के माध्यम से ठण्ढे-गरम आदि स्पर्श के विषयों को आत्मा तक पहुँचाती हैं। सभी इन्द्रियों का आत्मा तक विषयों का पहुँचने का काम एक जैसा ही है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन में सभी इन्द्रियां निमित्त-सहायक बनती है, अतः चक्षु-अचक्षु दर्शन दोनों संज्ञा योग्य ही हैं।

दर्शन गुण एवं दर्शनावरणीय कर्म

"दर्शन" का अर्थ है "देखना"। दर्शन यह आत्मा का गुण है। ज्ञाता-द्रष्टा लक्षणवान् आत्मा ज्ञानगुण के कारण ज्ञाता एवं दर्शन गुण के कारण द्रष्टा कहलाती है। ज्ञान से जानने की क्रिया होती है, एवं दर्शन से देखने की किया होती है। ज्ञान-दर्शन सहभावी गुण है। अर्थात् अन्यान्य मिलकर साथ रहते हैं। जानने-देखने की क्रिया बिना किसी विशेष अन्तर के एक साथ होती है। अतः आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण पर आधारित ज्ञाता-द्रष्टा भाव एक साथ रहते हैं। ज्ञान-दर्शन गुण, क्रिया एवं शक्ति उभय रूप में व्यवहरित होते हैं। दर्शन सामान्यकार होता है।

और ज्ञान विशेषाकार होता है। सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं, और विशेष ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। इन्द्रियों से देखने आदि की क्रिया में सर्वप्रथम वस्तु का सामान्य बोध अर्थात् दर्शन होता है, और बाद में विशेष बोध ज्ञान होता है। आत्मा ज्ञेय पदार्थों को देखकर ज्ञान करती है। आत्मा स्वयं अपनी दर्शन शक्ति से पदार्थों को देखती है, और देखे हुए पदार्थों को ज्ञानगुण से जानती है। कर्मावरणग्रस्त आत्मा के ज्ञान-दर्शनादिगुण तथा प्रकार के कर्मों से दबे हुए होने के कारण देखना जानना आदि इन्द्रियों की मदद से करती हैं। ज्ञान एवं ज्ञानावरणीय कर्म के विषय का पहले काफी विचार कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रवचन में दर्शनगुण एवं दर्शनावरणीय कर्म पर विचार कर रहे हैं। आत्मा के दर्शनगुण को ढकने वाला दर्शनावरणीय कर्म कहा है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में इसके अवान्तर भेद नौ बताए हैं।

दर्शनावरणीय कर्म

- दर्शन ४
  - चक्षु दर्शन
  - अचक्षुदर्शन
  - अवधि दर्शन
  - केवल दर्शन
- निद्रा ५
  - निद्रा
  - निद्रानिद्रा
  - प्रचला
  - प्रचला-प्रचला
  - थिणद्धी

चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥६॥
[उत्तरा. अ. ३३ श्लो. ६]

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलापयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥

उत्तरा. अ. ३३ श्लो. ५

दर्शनावरण ते वरणवुं, नव पगइ दुर्दत।
दर्शन निद्रा भेदथी, चउ पण कहे अरिहन्त ॥१॥

चौसठ प्रकारी पूजा में वीर विजय महाराज ने दर्शनावरणीय कर्म के मुख्य दो भेद बताकर फिर ९ भेद करते हैं।

४ प्रकार के दर्शनवरण एवं ५ प्रकार की निद्रा इस तरह मिलकर कुल ९ कर्म प्रकृतियां दर्शनावरणीय कर्म की है। चारों दर्शनावरणीय की कर्म प्रकृतियां

आत्मा से होने वाले दर्शनगुण को आवृत करती-रोकती है, और पांचों प्रकार की निद्रा ज्ञान-दर्शन की क्रिया में आत्मा की जागृत अवस्था को रोकती है इन ९ कर्म प्रकृतियों का अर्थ कर्मग्रन्थकार ने इस प्रकार बताया है ।

चक्खु - दिट्ठि— अचक्खु —सेसिंदिअ —ओहि केवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं तस्सा—ऽवरणं तयं चउ—हा ।।१०।।

चक्षु अर्थात् आंख या दृष्टि, अचक्षु अर्थात् शेष चार इन्द्रियां (मन को भी यहां लिया गया है) अवधि और केवल दर्शन के द्वारा सामान्याकार ज्ञान को दर्शन कहते हैं । इन चार प्रकार के दर्शनों पर आने वाले कर्मावरण को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं । वे क्रमशः इन्हीं चार गुणों को ढकने वाले होने से इनके नाम से ही कर्म कहलाते हैं । १. चक्षु दर्शनावरणीय कर्म २. अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म ३. अवधि दर्शनावरणीय कर्म ४. केवल दर्शनावरणीय कर्म ।

१. चक्षु दर्शनावरणीय कर्म—चक्षु—आंख से होने वाले दर्शन को रोकने वाला—आच्छादित करने वाला चक्षु दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है, अर्थात् चक्षु दर्शन को ढकने वाला चक्षु दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है ।

२. अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म—चक्षु के अतिरिक्त चारों शेष चार इन्द्रियों से (स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय) होने वाले सामान्यकार बोध रूप दर्शन को रोकने वाला—आच्छादक अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है ।

३. अवधि दर्शनावरणीय कर्म—अवधि अर्थात् नियत क्षेत्र की दूरी वाले प्रदेश तक देखने की आत्मा के अवधि दर्शनगुण को रोकने वाला अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है । अर्थात् अवधि ज्ञान के पूर्व होने वाला रूपी द्रव्य विषयक सामान्यकार बोध स्वरूप दर्शन को रोकने वाला अवधि दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है ।

४. केवल दर्शनावरणीय कर्म—अनन्त लोकालोकाकाश तक देखने की आत्मा के केवल दर्शन गुण को रोकने वाला—अच्छादक कर्म केवल दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है । अर्थात् लोकालोकाकाश के सर्व द्रव्य विषयक सामान्यकार ज्ञान रूप दर्शन का आवरक केवल दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है ।

आत्मा का सामान्य उपयोग अर्थात् पदार्थ का सामान्यकार रूप से देखना यह दर्शन कहलाता है और विशेष उपयोग अर्थात् सामान्यकार से देखे हुए पदार्थ

को ही विशेष रूप से जानना यह ज्ञान कहलाता है । यह प्रक्रिया छद्मस्थ-कर्मग्रस्त संसारी जीव को प्रथम सामान्योपयोगी दर्शन और फिर विशेषोपयोगी ज्ञान रूप होता है । अर्थात् दर्शन में पहले वस्तु का सामान्याकार बोध होता है, और ज्ञान में उसी का विशेषाकार बोध होता है । छद्मस्थ संसारी जीव को पहले दर्शन और बाद में ज्ञान होता है । अर्थात् कर्मावरण से दबी हुई आत्मा को प्रथम दर्शन का उपयोग और बाद में ज्ञान का उपकोग होता हैं, परन्तु घाती कर्मावरण रहित केवली सर्वज्ञ को प्रथम समय केवल ज्ञान हौता है । और दूसरे समय केवल दर्शन होता है, यह एक समय स्थिति वाला होता है ।

किसी भी एक काम को करते समय भिन्न-भिन्न वस्तु के सम्बन्ध में साकार और निराकर दो प्रकार के उपयोग होते हैं । परन्तु बे सभी हमारे ख्याल में नहीं आते हैं । जिनके उपयोग ख्याल में आने जैसे स्पष्ट होते हैं वे साकारोपयोग कहलाते हैं । और प्रवर्तमान होसे हुए भी ख्याल में न आए ऐसे उपयोग को निराकारोपयोग कहते है । व्यक्त-स्पष्ट उपयोग को साकारोपयोग कहते हैं, और अस्पष्ट-अव्यक्त उपयोग को निराकारोपयोग कहते हैं । पांचों इन्द्रियों और छठ्टे मन की सहायता से जो-जो उपयोग प्रवर्तमान होते है तथा उनके उपयोग का जो आकार दूसरे भी समझ सके ऐसे स्पष्ट हो, उन्हें साकारोपयोग (ज्ञान) कहते हैं । तथा उन्हीं पांच इन्द्रियों एवं छठ्टे मन से उपयोग प्रवर्तभान होते हुए भी जिसका आकार स्पष्ट नहीं होता है उसे निराकारोपयोग कहते हैं । यह निराकारोपयोग अर्थात् एक प्रकार का निर्विकल्प ज्ञान ही है, और साकारोपयोग सविकल्प ज्ञान होता हैं । दोनों ही उपयोग ज्ञान की ही जाति है, परन्तु साकार ज्ञान और निराकार ज्ञान के भेद स्पष्ट करने के लिए साकार को "ज्ञान" शब्द से और निराकार को "दर्शन" शब्द से शास्त्रों में वर्णित किया है । दर्शन भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, परन्तु साकार स्पष्ट न होने से निराकार निर्विकल्प होने से उसे "दर्शन" कहा है ।

दर्शन तीन प्रकार का कहा है—१. इन्द्रिय दर्शन २. अवधि दर्शन ३. केवल दर्शन ।

दर्शन
- १ इन्द्रिय दर्शन
  - चक्षुदर्शन
  - अचक्षुदर्शन
- २ अवधिदर्शन
- ३ केवल दर्शन

इनमें पहले इन्द्रियदर्शन के चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन दो भेद करके कुल दर्शन के चार प्रकार माने गए हैं।

चक्षुरिन्द्रिविषयकसामान्यावबोधरूपत्वं चक्षुदर्शनस्य लक्षणम्— चक्षु इन्द्रिय के विषय का जो सामान्य बोध रूप जो निराकार-निर्विकल्प ज्ञान होता है—उसे चक्षुदर्शन कहते हैं।

चक्षुर्वर्जापरन्द्रिय-मनोविषयकसामान्यावबोधरूपत्वमचक्षुदर्शनस्य लक्षणम्—चक्षु इतर अन्य चार इन्द्रियां और मन से होने वाले दर्शन को अचक्षुदर्शन गिना है। वास्तव में अचक्षुदर्शन अर्थात् चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां और मन से जो निराकार उपयोग प्रवर्तता है उसे अचक्षुदर्शन कहा है।

अवधिदर्शनावरणक्षयोपशमादिवशाद् विशेषग्रहणवैमुख्येन रूपिद्रव्यविषयक-सामान्यावोधरूपत्वमवधिदर्शनस्य लक्षणम्।

नीयत क्षेत्रावधि परिमित लोक के रूपी पुद्गल पदार्थों को देखना अर्थात् इनका सामान्य रूप से निराकार बोध यह अवधिदर्शन का कार्य है। इसी से बाद में साकारोपयोग विशेष बोध अवधिज्ञान रूप होता है।

मनः पर्यव को ज्ञान बताया है, परन्तु मनः पर्यव का अलग से स्वतन्त्र दर्शन नहीं बताया हैं। कारण बताते हुए कहा है कि मनः पर्यवज्ञानी तथाविध क्षयोपशम की विशालता के कारण पहले व बाद में भी मन के भाव विशेष रूप से ही ग्रहण करते हैं -जानते हैं। वहां सामान्य रूप निराकार बोध नहीं होता है, परन्तु पहले व बाद दोनों ही अवस्था में साकार-विशेष स्पष्ट बोध होता हैं। अतः मनःपर्यवज्ञान का दर्शन न होते हुए सीधे ही ज्ञान ही होता है। सर्वज्ञ प्रभु ने आगम में चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार प्रकार के दर्शन बताए हैं। मनः पर्यव को स्वतन्त्र रूप से दर्शन नहीं बताया है।

दर्शनावरणीय कर्म की उपमा—

पड–पडिहार–सि-मज्ज, हडचित्त–कुलाल–भड़गारीणं।
जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा ॥३८॥
(नवतत्त्व प्रकरण)

नवतत्त्व की प्रस्तुत ३८ वीं गाथा में आठों ही कर्मों को विविध प्रकार की उपमाएं देकर समझाया गया है। जैसे हम किसी बात को दृष्टांत तथा उदाहरण से समझते हैं, उसी तरह किस कर्म का कार्य कैसा है, यह उपमाओं के आठ दृष्टांत से समझाया गया है। गाथा में दर्शनावरणीय कर्म की उपमा के लिए "पडिहार" शब्द सूचित किया गया है। "पडिहार" यह प्राकृत शब्द है जिसे संस्कृत में प्रतिहारी कहते हैं। प्रतिहार अर्थात् द्वारपाल। प्रथम कर्मग्रन्थ की 9 वीं गाथा में "वित्ति समं दंसणावरणं" यह अन्तिम चरण दर्शनावरणीय कर्म के स्वभाव को समझाने के लिए पूज्य देवेन्द्रसूरि महाराज ने रखा है। यहां प्रयुक्त शब्द "वित्ति" अर्थात् द्वारपाल। अंग्रेजी में जिसे "WATCHMAN" कहते हैं। "जह एएसिं भावा, कम्माण वि जाण तह भावा।" अर्थात् जैसा इन उपमाओं का भाव है वैसा आठ कर्मों का भाव अर्थात् स्वभाव है।

जैसे एक राजमहल के बाहर द्वारपाल "वित्ति", "प्रतिहारी" खड़ा है। द्वारपाल का कार्य है किसी भी व्यक्ति को राजमहल में जाने से रोकना।

राजा से मिलने के लिए कोई आया हो वह राजा के दर्शन करना चाहता हो, उसकी काफी इच्छा हो फिर भी द्वार पर ही द्वारपाल के रोकने के कारण वह राजा के दर्शन नहीं कर पाता है अर्थात् नहीं मिल पाता है। ठीक उसी तरह दर्शनावरणीयकर्म "दर्शन को रोकने का काम करता है। द्वारपाल के जैसे स्वभाववाला यह दर्शनावरणीयकर्म आत्मा के गुण रूपी महल के सामने खड़ा है, जो आत्मा को जगत के अनंत पदार्थों को देखने नहीं देता है। देखने की शक्ति को दबा देता है, कुण्ठित कर देता है या आत्मा को निद्राग्रस्त करके नींद से सुला देता है, जिससे आत्मा कुछ भी देख न पाए। जैसे राजा द्वारपाल के अधीन हो जाता है, वैसे दर्शनावरणीयकर्म के कारण आत्मा इन्द्रियों के आधीन हो जाती है। निद्रा के अधीन भी कर देता है। निद्रा मे पड़ी हुई आत्मा निश्चेष्ट हो जाती है अर्थात् किसी भी इन्द्रिय से किसी भी विषय को ग्रहण नहीं कर पाती है। भान भूलकर निद्रा में पड़ी रहती है। यह दर्शनावरणीय का कार्य है।

इन्द्रियाँ—

इन्द्रियाँ जड़ हैं और आत्मा चेतन है। इन्द्रियों की तरह मन भी जड़ है। ज्ञाता-दृष्टाभाववान् आत्मा अपने ज्ञान-दर्शनादि गुणों से स्वयं जो भी कुछ जान सकती थी और देख सकती थी उसकी सारी क्रिया कर्म के उदय के कारण बन्द हो गई। कर्म ने आत्मा की शक्तियों और गुणों को आच्छादित कर दिया है। कर्म योग से बने हुए तथाप्रकार के शरीर, इन्द्रियाँ और मन के बीच में बैठी हुई आत्मा को अब उन्हीं के माध्यम से क्रिया करनी पड़ती है। अतः कर्मग्रस्त आज हमारी आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से देखती है—तथा जानती है। मन के माध्यम से सोचती है—विचार करती है, और शरीर के माध्यम से विविध प्रवृत्ति करती है।

तथाप्रकार के कर्मों के कारण सभी जीवों को कम-ज्यादा प्रमाण में इन्द्रियाँ मिलती हैं। अपने जन्म स्थान में जाकर जीव पर्याप्त अपर्याप्त नामक नाम कर्म से ६ पर्याप्तिओं में से न्यूनाधिक पर्याप्तियाँ पूरी करता है। इस प्रक्रिया में आहार से शरीर और शरीर में इन्द्रियाँ बनाने का काम आत्मा करती है। गति नाम कर्म के आधार पर आत्मा देव, मनुष्य, नरक तिर्यंच गति में जाती है, और उन गतियों में जाति नाम कर्म के आधार पर एक से पांच तक कम-ज्यादा इन्द्रियाँ बनाती है। तिर्यंच गति में जीव एक इन्द्रिय से लेकर ५ तक इन्द्रियाँ बनाता है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय से एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों को इन्द्रियाँ न्यून-कम मिलती हैं। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय जीवों को मूल से ही चक्षु नहीं होती है। अतः चक्षु-दर्शनावरणीयकर्म उनका पूरा ही उदय में रहता है तथा अचक्षुदर्शनावणीयकर्म में एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय जीवों को कम–ज्यादा इन्द्रियाँ मिलती हैं, और कर्णेन्द्रिय नहीं मिलती है। विकलेन्द्रिय में चउरेन्द्रिय जीवों को चक्षु मिलती है, परन्तु श्रवणेन्द्रिय (कान) नहीं मिलता है। अत चक्षुदर्शनावरणीय और अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म दोनों ही उदय में रहते हैं।

उसी तरह पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीवों में चक्षुदर्शनावरणीयकर्म और अचक्षु-दर्शनावरणीय कर्म दोनों ही उदय में रहते हैं। अंगोपांग नाम कर्म और इन्द्रियपर्याप्ति-नामकर्म के उदय से द्रव्य इन्द्रियाँ, बनती हैं। भावेन्द्रियाँ मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपक्षम से बनती है, परन्तु एकेन्द्रिय आदि का व्यवहार जाति-नाम-कर्म के आधार पर होता है।

इन्द्रियों का सदुपयोग—

दस प्रकार के प्राणों में कम से कम चार प्राण अनिवार्य है। १. शरीर २. इन्द्रिय ३. श्वासोश्वास और ४. आयुष्य। संसार में कोई भी आत्मा बिना शरीर रहती ही नहीं है और शरीर के बिना इन्द्रियाँ होती ही नहीं हैं। कम से कम एक इन्द्रिय तो अवश्य होती है। और अधिक से अधिक पाँच इन्द्रियाँ और मन। 84 के चक्कर में परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा पंचेन्द्रिय पर्याय में अन्त में मनुष्य बनती है। पंचेन्द्रिय पर्याय चारों ही गति में है। आज हम अत्यन्त दुर्लभ और कीमती ऐसे मनुष्य जन्म में आए हैं। पाँचों ही इन्द्रियाँ हमें पूर्ण मिली हैं।

इन्द्रियों का कार्य वर्ण-गंध-रस स्पर्शादि 23 विषयों को ग्रहण करना है। जन्म से लेकर आज हमारे जीवन के करीब 50–60 वर्ष बीत चुके हैं। यदि हम विचार करें कि मिली हुई इन पाँचों ही इन्द्रियों का हमने कितना सदुपयोग किया है, कितना दुरुपयोग किया है, क्या सही अर्थ में हमने अच्छा सदुपयोग किया है, या अधिकांश दुरुपयोग ही किया है ? इसका उत्तर तो आत्म निरीक्षण करने से ही मिलेगा। लगता ऐसा है कि अधिकांश लोगों ने इन्द्रियों और मन का दुरुपयोग ही ज्यादा किया है। यदि हम स्वयं स्व आत्मा को ही प्रश्न करें कि हे जीव ! (१) क्या तूने देखने जैसा ज्यादा देखा है या न देखने जैसा ही ज्यादा देखा है ? (२) सुनने जैसा ज्यादा सुना है या न सुनने जैसा ज्यादा सुना है ? (३) बोलने जैसा ही ज्यादा बोला है या न बोलने जैसा ज्यादा बोला है ? खाने जैसा ही ज्यादा खाया है या न खाने जैसा ज्यादा खाया है ? (४) सूंघने जैसा ही ज्यादा सूंघा है या न सूघने जैसा ज्यादा सूंघा है ? (५) मन से सोचने जैसा ही ज्यादा सोचा है या न सोचने जैसा भी ज्यादा सोचा है ? प्रत्येक जीव को योग्यायोग्य का विचार तो प्रायः होता ही है। संज्ञी-समनस्थ-विचारशील जीव प्रायः अपनी बुद्धि का उपयोग करता हुआ योग्यायोग्य का विचार करता हुआ ही कार्य करता है, परन्तु तीव्र रागादि मोहदशा के कारण स्वार्थबृत्तिवश न करने योग्य कार्य भी कर लेता है। संसार में अधिकांश जीव न देखने जैसा ही ज्यादा देखते हैं, देखने जैसा तो बहुत कम ही देखते होंगे। वास्तव में यह मिली हुई इन्द्रियों का सदुपयोग नहीं है। उसी तरह सभी इन्द्रियां और मन से किया गया विपरीत व्यवहार सदुपयोग नहीं, परन्तु दुरुपयोग ही कहलाएगा। सदुपयोग तो उसे

कहते हैं जिसमें इन्द्रियों के देखने-सुनने आदि व्यवहार के पश्चात भी आत्मा को कर्मबंध न हो, और कर्म की निर्जरा हो। शुभाश्रव, पुण्य, संवर, निर्जरा हो, वहां तक इन्द्रियों का व्यवहार अच्छा कहलाएगा। परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि अधिकांश जीव पुण्याश्रव–संवर–निर्जरा के बजाय अशुभाश्रव, पाप एवं कर्मबंध की प्रवृत्तियों में ज्यादा रचे पचे हैं। अतः अपना न देखकर पराये का अनाचार–दुराचार आदि को ज्यादा देखते हैं। यह इन्द्रियों का भारी दुरुपयोग हैं। इन्द्रियाँ और मन से ही सारा व्यवहार चलता है।

इन्द्रियों के दुरुपयोग की सजा—

सभी इन्द्रियाँ जड़ हैं, और मन भी जड है। एक मात्र आत्मा ही चेतन है। यदि आत्मा ने इन्द्रियों के व्यवहार का दुरुपयोग करके कर्म बांधे, पाप किये तो, सजा आत्मा को ही भुगतनी पड़ेगी। इन्द्रियाँ तो जड़ हैं और मन भी जड़ है। वे जड़ होने से कोई क्रिया नहीं करती हैं। क्रिया करने वाला कर्ता तो मात्र आत्मा ही है। अतः इन्द्रियों को और मन को कोई कर्म बंध नहीं होता है; परन्तु इन्द्रियों और मन से कर्म बंध होता है। अतः कर्म की सजा, पाप की सजा इन्द्रियाँ नहीं भुगतती है आत्मा ही भुगतती है। "कर्म के घर में इन्द्रियों के दुरुपयोग रूप पाप की सजा बड़ी भारी, विचित्र है" जिस इन्द्रिय का जीव ने बड़ा भारी दुरुपयोग किया हो वह इन्द्रिय उस जाव को अगले जन्म में नहीं भी मिलती है। जिस मन का दुरुपयोग करके जीव ने बहुत ज्यादा बुरा सोचा हो उसे जन्मांतर में बिना मन के जन्म करने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ सोचिए कि—किसी ने आँख, चक्षुइन्द्रिय का बहुत ज्यादा दुरुपयोग किया है, अर्थात् जीवनभर न देखने जैसा ही ज्यादा देखा है। इस पाप के कारण जन्मांतर में उस जीव को बिना आँख का जन्म लेना पड़े। बिना आँख का जन्म अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय वाले कृमि, चींटी, मकोड़े आदि का जन्म धारण करना पड़े। कृमि, चींटी, मकोड़े को आँख, कान नही हैं। अतः वे दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय जीव कहलाते हैं। ऐसे कई जन्म धारण करते हुए काफी लम्बा काल बिताना पड़ता है। कर्म के घर में यह कितनी बड़ी भारी सजा है। ठीक इसी तरह सोचिए कि सोचने विचारने के कार्य में जो मन सहायक है उसका यदि हमने दुरुपयोग किया तो जन्मांतर में बिना मन का जन्म मिलेगा। जैसे ईर्ष्या, द्वेष आदि वृत्ति से यदि हमने दूसरों का अहित ही सोचा या, विषय–कषाय की वृत्ति से हमने सोचने-विचारने में बहुत कुछ

गलत ही सोचा तो बड़े भारी पाप कर्मों का बंध होगा। फलस्वरूप जीव को जन्मांतर बिना मन के जन्म धारण करने पड़ेंगे। बिना मन के भव को असंज्ञी भव कहते हैं। जैसे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय के समुर्च्छिम में जन्म मिलता है। चींटी, मकोड़ों को या कीट-पतंगों को मन नहीं मिलता है। अब वहां सोचना-विचारना मन से नहीं होता है। ऐसे कई जन्म बहुत लम्बे काल तक करने पड़ते हैं। कर्म के घर में यह कितनी बड़ी भारी सजा है? इन्द्रियां और मन जो कि जड़ हैं वे स्वयं देखने, सुनने, सोचने आदि की क्रिया में मनमानी नही करते है। वे तो मुख्य कर्ता आत्मा के अधीन हैं। आत्मा जैसा चाहे वैसा उनका उपयोग कर सकती है। जैसे तलवार का क्या उपयोग करना यह कर्ता को सोचना है। यदि सदुपयोग करेगा तो स्व की रक्षा होगी और दुरुपयोग करेगा तो आत्महत्या भी हो सकती है। उसी तरह इन्द्रियाँ और मन भी जड़ है। उनका कैसा उपयोग करना (सदुपयोग या दुरुपयोग) यह निर्णय आत्मा को ही करना होगा। इस सम्बन्ध में उमास्वाती महाराज प्रशमरति ग्रन्थ में कहते हैं कि—

स्वगुणाभासरतमते, परवृतांतांधमुक बधिरस्य।
मदमदनमोहमत्सर, रोषविशादैरधृश्यस्य ॥

अपने गुण के अभ्यास में रत आत्मा को पर वृत्तांत अर्थात् पराये निमितों को देखने, सुनने, बोलने आदि में अन्ध, मूक और बधिर बनना ही लाभदायक है अर्थात् पर प्रपंच के, पराये दोष-दुर्गुण देखने में हम अन्ध की तरह रहें, पराये दोष-दुर्गण सुनने में हम बधिर-बहरे रहें, तथा पराये-दोष-दुर्गुण एवं निन्दा की बातें बोलने में हम मूक-भूंगे बनकर रहें यहि हितावह है। इस तरह मिली हुई इन्द्रियों का सही सदुपयोग करें, यही अच्छा है।

चक्षु की दर्शन शक्ति का सदुपयोग—

आत्मा के दर्शन गुण को क्रिया रूप में परिणत करके परमात्मदर्शन से दर्शनगुण विशुद्ध एवं विकसित करें। अतः परमात्मदर्शन आध्यात्मिक साधना की एक अद्‌भुत प्रक्रिया हैं। दर्शनीय परमात्मा है, और दर्शन कर्ता पामरात्मा है। आत्मा के साथ परम और पामर विशेषण जोड़ने से परमात्मा और पामरात्मा शब्द बनते है। परम + आत्मा = परमात्मा, पामर + आत्मा = पामरात्मा। आत्म स्वरूप

दोनों ही आत्माएं समान हैं, परन्तु दो के बीच जो अन्तर है वह विशेषण ने समझाया है। परम उसे कहेंगे जो सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरी, सर्वोत्तम है। ऐसी सर्व कर्म रहित, सर्व गुण सम्पन्न-सर्वज्ञ-वीतरागी आत्मा परमात्मा कहलाती है। ठीक इससे विपरीत कर्म संयुक्त एवं गुण रहित आत्मा पामरात्मा कहलाती है। परमात्मा-पामरात्मा के लिए एक उच्च आदर्श है। अतः पामरात्मा को परमात्मा ही का आलंबन लेना चाहिये। जैसे समुद्र में पार उतरने के लिये हम लकड़ी की नाव का सहारा लेते हैं, ठीक वैसे ही पामरात्मा को संसार समुद्र से पार उतरकर परमधाम–मोक्ष में पहुँचने के लिए परमात्मा का सहारा-आलंबनरूप है। परमात्मा पूज्यनीय–दर्शनीय–वंदनीय-चिन्तनीय है। अतः पामरात्मा को उनका पूजक–दर्शक–वंदक–चिंतक बनना चाहिए। परमात्मा भगवान है, और पामरात्मा भक्त है। भक्त को भगवान की भक्ति करनी चाहिए। भक्ति की प्रक्रिया में प्रभुदर्शन प्राथमिक क्रिया है। तत्पश्चात आगे पूजा, भावना, ध्यानादि है।

चक्षु इन्द्रिय के अभाव में एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय की कक्षा में कृमि-कीट-पतंग के अनेक जन्मों में आत्मा परमात्मा का दर्शन नहीं पा सकी। चक्षु इन्द्रिय की प्राप्ति के कई जन्म नरक एवं तिर्यंच गति में हुए, परन्तु वहां भी प्रभुदर्शन दुर्लभ रहा। ८४ लक्ष जीव-योनियों में मनुष्य गति एवं स्वर्गीय देवगति में परमात्म दर्शन, पूजा, भक्ति आदि सुलभ रही। मनुष्य जन्म में मिली हुई चक्षु आदि सभी इन्द्रियों का प्रभुदर्शन, पूजा, भक्ति आदि में सदुपयोग करके इन्द्रियों की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए। ऐसी अभिव्यक्ति एक श्लोक में इस प्रकार की गई है--

अद्य प्रक्षालितं गात्रं नेत्रे च विमलीकृते ।
मुक्तोऽहं सर्वपापेभ्यो, जिनेन्द्र ! तव दर्शनात् ।।

एक दर्शक आत्मा प्रभुदर्शन करके अपनी धन्यता को इस श्लोक के शब्दों में प्रकट कर रही है। हे जिनेश्वर भगवान ! आपके दर्शन करने से मैं ऐसा कहता हूं कि आज मेरा शरीर पवित्र हो गया है, मुझे मिली हुई आँखें विमल (निर्मल) हो गई हैं, मैं सर्व पापों से मुक्त हो गया हूँ।

अद्याभवत् सफलता नयनद्वयस्य,
देव ! त्वदीय चरणाम्बुजवीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोकतिलकं प्रतिभासते मे,
संसारवारिधिरयं चुलूकप्रमाणम् ।।

जीवन में प्रथम बार ही प्रभु के दर्शन पाकर भक्त अपनी भावना के उद्गार इस श्लोक के शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि—हे जिनेश्वर! वीतरागी अरिहंत देव! आपके चरण कमल का दर्शन करके आज मैं मुझे मिली हुई दोनों आंखों की सफलता का अनुभव करता हूँ। आपके दर्शन से तीन लोक रूप संसार महासागर आज मुझे मात्र चुलूक रूप प्रतिभासित होता है। प्रथम दर्शन मात्र से ही भक्त ने कितनी उत्कृष्ट भावना प्रकाशित की है कि प्रभुदर्शन से वह अब इतने लम्बे चौड़े संसार-सागर को भी मात्र एक चुलूक प्रमाण मानने लगा है। जैसे नौका मिलने के बाद समुद्र का भय नहीं रहता है, वैसे ही प्रभु दर्शन की प्राप्ति से संसार में डूबने का भय नहीं रहता है। भक्त आज अपनी आँखों की धन्यता प्रकट करता है, अर्थात् इन आँखों ने आज दिन तक संसार में देखने जैसा ही देखा, परन्तु न देखने जैसा कुछ भी नहींदेखा है। इसलिए आज प्रभुदर्शन से अपने को धन्य मानता है। इसी भाव को पूज्य यशोविजयजी महाराज ऋषभजिन के स्तवन में निम्न रूप से प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—

ऋषभ जिनराज मुज आज दिन अती भलो,
गुण नीलो जेणे तुज नयण दीठो।
दुःख टल्या सुख मल्या स्वामी तुझ निरखतां;
सुकृत संचय हुओ पाप नीठो॥

—हे ऋषभ जिनराज! मेरा आज का दिन अत्यन्त अच्छा है जिससे कि तेरे अनुपम गुणों को आज मैं दृष्टि से देख पाया हूँ। हे स्वामी! आपको देखने से—आपके दर्शन करने से मेरे दुःख दूर हो गए हैं और सुख प्राप्त हुआ है, तथा सुकृत का संचय हुआ है और पाप दूर भाग गए हैं।

धन्य ते काय जेणे पाय तुज प्रणमीया;
तुज थूणे धन्य तेह धन्य जीव्हा।
धन्य ते हृदय जेणे सदा तुज समरतां;
धन्य ते रात ने धन्य ते दीहा॥

उनकी काया (शरीर) धन्य है जिन्होंने आपके चरणों में प्रणाम किया है, आपकी स्तुति-स्तवना करने वाले भी धन्य है और उनकी जीभ भी धन्य हो गई है,

वे हृदय भी धन्य है जिन्होंने आपका सदा स्मरण किया हैं, तथा वे दिन भी धन्य हैं और वे रात भी धन्य हैं जब जीवों ने आपको भजा है ।

दर्शन महिमा एवं स्वरूप—

वास्तव में शास्त्रों में दर्शन की महिमा अनुपम रूप से गाई गई है ।

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पाप नाशनं ।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं, दर्शनं मोक्ष साधनं ॥

देवताओं के भी देव-देवाधिदेव का दर्शन पाप का नाश करता है, स्वर्ग प्राप्ति के लिए सोपानरूप है और दर्शन मोक्ष प्राप्ति का परम साधन है ।

दर्शनात् दुरितध्वंसी, वंदनात् वांछितप्रदः ।
पूजनात् पुरकः श्रीणां, जिनः साक्षात् सुरद्रुमः ॥

प्रभु के दर्शन मात्र से दुरित अर्थात् विध्नों का नाश होता है, वंदन मात्र से ही वांछित प्राप्त होता है, तथा पूजन मात्र से पूज्यता प्राप्त होती है । अतः जिनेश्वर भगवान मानो साक्षात् कल्पवृक्ष समान हैं । जिनेश्वर के दर्शन आदि का फल बताते हुए कहते हैं कि—

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वन्दनेन च ।
न तिष्ठति चिरं पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥

जिनेश्वर भगवान के दर्शन से एवं साधु-महाराजाओं के वंदन से चिरकाल का लम्बा पाप खड़ा ही नहीं रहता है । जैसे छिद्र वाली अंजली में पानी नहीं ठहरता है, वैसे ही चिरकाल का पाप प्रभु दर्शन के बाद नहीं रहता है । प्रभु दर्शन के लिए उपमा देते हुए कहते हैं कि—

प्रभु दर्शन सुख सम्पदा, प्रभु दर्शन नवनिद्ध ।
प्रभु दर्शन थी पामीये, सकल पदारथ सिद्ध ॥

प्रभु के दर्शन सुख की सम्पदा रूप है, प्रभु दर्शन ही नवनिधान है, प्रभु के दर्शन से ही सर्व पदार्थों की सिद्धि प्राप्त होती है । ऐसा दर्शनार्थी का भाव है ।

स्वामी दरशण समो निमित्त लही निरमलो,

जो उपादान शुचि न थाशे;

दोष को वस्तुनो अहवा उद्यम तणो, स्वामी सेवा सही निकट लाशे ।।

पूज्य देवचन्द्रजी महाराज भगवान महावीर स्वामी के स्तवन में कहते हैं कि—स्वामी—भगवान के दर्शन के समान उत्कृष्ट निर्मल निमित्त पाकर के भी यदि हमारा उपादान पवित्र न बन सके तो उसमें किसका दोष मानना चाहिए । दोष वस्तु का होगा या अपने उद्यम-पुरुषार्थ का होगा ? क्योंकि "स्वामी सेवा"— प्रभु पूजा-भक्ति तो प्रभु के निकट लाने वाली है । इस गाथा के प्रथम चरण में प्रभु दर्शन की और अंतिम चरण में प्रभु सेवा-पूजा की बात की है । दर्शन-पूजा को उन्होंने भक्त को भगवान के निकट लाने वाली बताई है, तथा प्रभुदर्शनादि से हमारे उपादान की निर्मलता होती है ऐसा बताया है ।

प्रभुदर्शन में स्व-आत्म दर्शन—

जिनेश्वर प्रभु का मन्दिर एक राज दरबार है, जहां प्रभु न्याय कर्ता राजा के स्वरूप में बैठे हैं । प्रभु का मन्दिर एक पाठशाला है, जिसमें प्रभु एक शिक्षक के रूप में बिराजमान हैं और हमारे जैसे भक्त प्रतिदिन इस पाठशाला में एक विद्यार्थी के रूप में शिक्षा लेने आते हैं । प्रभु मूक शिक्षक के रूप में है । हम चाहें तो उनके दर्शन करने के रूप में बहुत अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं । यदि हमें करना आए तो ? शिक्षक के रूप में प्रभु को बोलने की कोई आवश्यकता ही नहीं है । जिनका समस्त जीवन ही शिक्षा स्वरूप है, उपदेश स्वरूप ही है— उन्हें शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं है । हमें शिक्षा लेने की आवश्यकता है । प्रभु प्रतिमा की प्रशांत मुद्रा हमें शान्त होने की शिक्षा देती है । प्रभु प्रतिमा का वीतराग स्वरूप कैसा है यह निम्न श्लोक में बताया है—

प्रशमरसनिमग्नं, दृष्टियुग्मं प्रसन्नम्,

वदनकमलमंक, कामिनीसंगशून्यः ।

करयुगमपिधत्ते, शस्त्रसंबंधवंध्यम्,

तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ।।

प्रशांत रस में मग्न तथा दोनों ही नेत्र जिसके प्रसन्नचित्त है, जिनकी देह कमल रूपी गोद स्त्री संग से शून्य–रहित है, तथा दोनों ही हाथों में किसी प्रकार के शस्त्र भी नहीं है, इस तरह स्त्री के अभाव में राग और काम रहित, तथा शस्त्रादि के अभाव में द्वेष रहित प्रभु का स्वरूप है। ऐसा राग-द्वेष रहित वीतराग स्वरूप जो कि प्रशांतरस भरपूर है ऐसा प्रभु का एवं प्रभु की प्रतिमा का वीतरागभाव का स्वरूप दर्शनीय है। इसलिए कहा कि—"**तदसि जगति देवो, वीतरागस्त्वमेव**"—जगत में एक मात्र आप ही वीतराग देव हैं।

वीतराग की स्तुति हम किसी नाम से कर सकते हैं, क्योंकि वहां नाम का महत्त्व नहीं है, वीतरागता के गुण का महत्त्व है। इस भाव को एक श्लोक में इस प्रकार दर्शाया है—

भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

भवबीज रूपी कर्म के अंकुर जो राग-द्वेष हैं वे जिनके सर्वथा क्षय हो चुके हैं ऐसे नाम स्वरूप से चाहे वें ब्रह्मा हों या विष्णु हों या हर हर महादेव हों या जिन-जिनेश्वर भगवान हों उन्हें मेरा नमस्कार हो। यहां प्रस्तुत श्लोक नमस्कार 'नाम' को नहीं, परन्तु वीतरागता के गुण को किया है। यही बात नमस्कार महामन्त्र में "**नमो अरिहंताणं**" "**नमो सिद्धाणं**" मन्त्र पदों से अनन्त अरिहंत भगवंतों को एवं अनन्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया है। "अरिहंत" यह नाम नहीं है, परन्तु गुणवाचक पद है। अरिहंत नाम के कोई भगवान नहीं हुए हैं, परन्तु भगवान अरिहंत गुणवान होते हैं। अरि + हंत = अरिहंत।

"अरि" अर्थात् आत्मा के काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग तथा द्वेषादि आंतर शत्रु। "हंत" अर्थात् उनका नाश जिसने किया है ऐसे भगवान अरिहंत कहलाते हैं। इस तरह जैन धर्म में नाम को नहीं, परन्तु गुण को महत्त्व दिया है, जैन धर्म व्यक्तिपरक नहीं अपितु गुणपरक है।

स्वामी गुण ओलखी स्वामी ने जे भजे, दरिशण शुद्धता तेह पामे।
ज्ञान चरित्र तप वीर्य उल्लास थी, कर्म जीपी वसे मुक्ति धामे॥....

देवचंद्रजी महाराज ने स्तवन में कहा है कि प्रभु के गुणों को देखते हुए प्रभु के दर्शन करने वाले श्रेष्ठ दर्शक हैं। प्रभु के गुणों को देखते हुए जो भक्ति-स्तुति-स्तवना करता है, वही दर्शन की विशुद्धि को प्राप्त करता हैं, अर्थात् शुद्ध दर्शन करता है, तथा ज्ञान, चरित्र, तप, वीर्य उल्लास से कर्मों को जीतकर मुक्तिधाम-मोक्ष को प्राप्त करता है। इस तरह शुद्ध दर्शन को उन्होंने मोक्ष प्राप्ति का कारण बताया है।

प्रभु दर्शन की क्रिया—

घर संसार में मनुष्य प्रतिदिन दर्पण में मुंह देखता है। यह हर व्यक्ति के जीवन की प्रतिदिन की दैनिक क्रिया बन चुकी है। प्रश्न यह उठता है कि—दर्पण तो जड़ और मनुष्य चेतन है। चेतन जड़ के सामने क्या और क्यों देखने जाता है? उत्तर स्पष्ट ही है कि वह दर्पण में अपनी क्षति-कमी देखता है। मेरे बाल सही हैं या नहीं? मेरे कपड़े व्यवस्थित है या नहीं? काजल सही लगी है या नहीं? बिंदी सही लगी है या नहीं? इत्यादि अपनी क्षति देखकर वह उन्हें सुधार लेता है। इस तरह दर्पण का उपयोग मनुष्य के जीवन में एक विशेष महत्त्व रखता है। ठीक वैसे ही धार्मिक जीवन में प्रभु दर्शन का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। "शब्द चिन्तामणि" नामक कोश में दर्शन शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ करते हुए दर्पण अर्थ भी किया है और देखना, दृष्टि आदि अर्थ भी है। दर्शन की प्रक्रिया में प्रभु की प्रतिमा को यदि हम दर्पण मानें तो इस प्रतिमारूपी दर्पण में हम अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। यह तो उपमा रूपक से बात हो रही है। कांच के दर्पण में बाह्य रूप-रंग दिखायी देता है, परन्तु यहां जिन प्रतिमारूपी दर्पण में आत्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। दर्पण में बाह्य क्षति की तरह जिन प्रतिमा में हम आत्मिक दोष-दुर्गुण रूपी क्षतिओं को देख सकते हैं। परमात्मा में स्व आत्मदर्शन करने की यह एक अद्भुत प्रक्रिया हैं।

परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न एवं सर्व दोष-दुर्गुण रहित पूर्ण-सम्पूर्ण सर्वज्ञ-सर्वदर्शी एवं वितरागी है। उसमें किसी भी प्रकार की कमी या क्षति की सम्भावना ही नहीं है, जबकि हमारी आत्मा किसी भी गुण से पूर्ण सम्पूर्ण नहीं है। हम अपूर्ण-अल्पज्ञ-रागी-द्वेषी आदि सर्व दोष-दुर्गुण से भरपूर हैं। इसी बात को उदयरत्नजी महाराज ने पामरात्मा और परमात्मा की तुलना करते हुए शान्तिनाथ भगवान के स्तवन में इस तरह कहा है कि—

सुणो शान्ति जिणंद सोभागी हुं तो थयो छु तुज
गुणरागी; तुमे निरागी भगवंत, जोतां केम मलशे तंत ॥१॥

हुं तो क्रोध कषाय नो भरियो, तं तो उपशम रसनो दरीयो;
हुं तो अज्ञाते आवरीयो, तु तो केवल कमला वरीयो ॥सु०॥२॥

हुं तो विषया रसनो आशी, तें तो विषया कीधी निराशी;
हुं तो कर्म भारे भर्यो, तें तो प्रभु भार उतार्यो ॥सु०॥३॥

हुं तो मोह तणे वश पडीयो, तु तो सघला मोहने नडीयो;
हुं तो भव समुद्र मां खुंतो, तुं तो शिव मन्दिर मां पहोतो ॥सु०॥४॥

मारे जन्म मरण नो जोरो, तें तो तोड्यो तेहनो दोरो।
मारो पासो न मेले राग, प्रभुजी थयां वीतराग ॥सु०॥५॥

मुने मायाए मुक्यो पाशी तुं तो निरबंधन अविनाशी।
हुं तो समकित थी अधुरो, तं तो सकरथ पदारथे पूरो ॥सु०॥६॥

म्हारे छो तुंहि प्रभु एक, त्हारे मुज सरीख्या अनेक।
हुं तो मन थी नमक मान, तुं तो मान रहित भगवान ॥सु०॥७॥

मारूं कींधु ते शुं न थाय, तु तो रंक ने करे राय;
एक करो मुज महेरबानी, म्हारो मुजरो लेओ मानी ॥सु०॥८॥

एक वार जो नजरे निरखो, तो करो मुजने तुम सरीखो।
जो सेवक तुम सरीखो थाशे, तो गुण तमारा गाशे ॥सु०॥९॥

भवो भव तुज चरणोनी सेवा, हुं तो मागुं देवाधिदेवा;
सामु जुओ ने सेवक जाणी, एवी उदयरत्ननी वाणी ॥सु०॥१०॥

इस तरह उदयरत्नजी महाराज ने मैं कैसा हूँ ? और भगवान कैसे हैं ? मेरे में क्या है ? और भगवान में क्या है ? प्रभु में कैसे गुण कितने प्रमाण में हैं, और ठीक विपरीत मेरे में कैसे दोष–दुर्गुण कितने प्रमाण में हैं ? इस प्रकार की तुलना का चित्र खड़ा किया है। सही बात है कि अपूर्ण अपनी तुलना अपूर्ण से करके अपनी पूर्णता को नहीं देख पाता है। इसलिए अपूर्ण को चाहिए कि वह अपनी तुलना पूर्ण

के साथ ही करे। पूज्य उपाध्यायजी यशोविजयजी महाराज ने ज्ञानसार अष्टक में "पूर्णता" नामक अष्टक में पूर्णानन्दी, परमात्मा के स्वरूप का जो अद्भुत वर्णन किया है, उसे पढ़कर पूर्ण की पूर्णता का पूर्ण-सम्पूर्ण स्वरूप जानकर हम अपनी अपूर्णता का विचार करें। तभी पूर्ण की पूर्णता और अपूर्ण (अपनी) की अपूर्णता को देख सकेगा। पूर्ण में पूर्ण की पूर्णता, अपूर्ण में अपूर्णता का ज्ञान यह दर्शन करा रहा है। अतः प्रभुदर्शन की प्रक्रिया में स्व-आत्म दर्शन करना और स्वात्म-दर्शन करके स्वआत्मा की क्षतियां दूर करने की कोशिश करना यह दर्शन की फल-श्रुति है। ऐसे दर्शन का अनुपम एवं अद्भुत वर्णन अवधूत योगी पूज्य आनन्दघनजी महाराज ने अपनी चौबीसी में विशेष रूप से अभिनन्दनस्वामी के स्तवन में किया है। उनकी शब्द रचना इस प्रकार है—

अभिनन्दन जिन! दरिसण तरसीए, दरसण दुरलभ देव।
मत मत भेदे रे जो जइ पूछीए, सहु थापे अहमेव॥
अभिनन्दन जिन! दरिसण तरसीए॥१॥

सामान्ये करी दरिसण दोहिलं, निरणय सकल विशेष।
मद में घेर्यो रे अंधो किम करे, रवि-शशि-रूप विलेख॥२॥

हेतु विवादे हो चित्त धरी जोइए, अति दुरगम नयवाद।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद॥३॥

घाती डूंगर आडा अति घणा, तुज दरिसण जगनाथ।
धीठाई करी मारग संचरूं, सेंगु कोइ न साथ॥४॥

दरिसण दरिसण रटतो जो फिरूं, तो रणरोझ समान।
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भांजे विषपान॥५॥

तरस न आवे हो मरणजीवन तणी, सीजे जो दरिसण काज।
दरिसण दुरलभ सुलभ कृपा थकी, 'आनंदघन' महाराज॥६॥

संक्षिप्त सारांश यह है कि—आनन्दघन जैसे योगी दर्शन के लिए तड़प रहे हैं। उनकी चाहना चातक की स्वाति नक्षत्र की बूंद की चाहना जैसी है। प्रभुदर्शन से सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की दिशा में वे रण के रोझ की तरह दौड़ रहें है। अमृतपान की इच्छा वाले को विषपान से संतोष कैसे हो सकता है? "दर्शन" को अमृतपान मानते हुए आनंदघन योगी दुर्लभ दर्शन को सुलभ करने के लिए प्रभु कृपा की चाहना रखते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि "**दरिसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी आनंदघन**

महाराज।" प्रभु की कृपा से दुर्लभ दर्शन भी सुलभ हो जाते हैं। इस तरह अभिनन्दन स्वामी के स्तवन में आनन्दघनजी की दर्शन विषयक अभिव्यक्ति वास्तव में चिन्तनीय एवं मननीय है।

निजानंद अनुभवी पूज्य देवचन्द्रजी महाराज की आनन्दघनजी की तरह पद्मप्रभु स्वामी के स्तवन में—"**तुज दरिसण मुज वालहुं रे लाल, दरिसण शुद्ध पवित्त रे**" इन शब्दों का प्रयोग करके भावों की अभिव्यक्ति में कहते हैं कि—हे प्रभु! तेरा दर्शन मुझे प्यारा है। यह दर्शन शुद्ध एवं पवित्र है। यही दर्शन तेरे-मेरे बीच सेतु है। आत्म-सिद्धि के लिए यही शुद्ध नियामक हेतु है। हे प्रभु! तेरा नाम भी मेरे लिए इस भवसागर में सेतु है। जिन दर्शन के माध्यम से समयग्दर्शन की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर पूज्य देवचन्द्रजी महाराज के प्रस्तुत पद्मप्रभु के स्तवन में दर्शन की सभी नयों से व्याख्या की गई है। "**प्रमाणनयैरधिगमः**" प्रमाणनय तत्त्वालोक ग्रंथ में तार्किक शिरोमणि पूज्य वादिदेवसूरि महाराज ने प्रमाण और नयों से ज्ञान सही होता है, ऐसा कहा है। सही अर्थ में इन महापुरुषों ने "दर्शन" की दार्शनिक धरातल पर अद्भुत उपयोगिता सिद्ध की है।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने प्रभुदर्शन को माध्यम बनाकर अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका एवं अयोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका नामक अद्भुत दार्शनिक ग्रन्थ लिखे हैं। सिर्फ ३२ श्लोकों में प्रभु स्तवन के माध्यम से कितने सहजभाव से गम्भीर दार्शनिक चर्चा का महासागर खड़ा कर दिया है। यही उनकी गरिमा एवं विशेषता है। ठीक उसी तरह सत्रहवीं शताब्दी के महान् दार्शनिक सरस्वती पुत्र तुल्य महा महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने "महावीर स्तव प्रकरण" ग्रन्थ लिखा है। नामकरण की शब्द रचना को देखते हुए ऐसा लगता है कि कितने सरल एवं आसान शब्द हैं? परन्तु प्रभुदर्शन एवं स्तवना के माध्यम से उपाध्यायजी ने दार्शनिक जगत की खंडन-मंडनात्मक विवेचना करते हुए सभी दर्शनों की खबर ले ली है। इतनी सहज और स्वाभाविक भावभंगिमा से एक तरफ प्रभु के गुणगान की स्तवना, और दूसरी तरफ दार्शनिक चर्चा की सर्वोपरिता एवं चरम सीमा का दर्शन कराया है। यहाँ न्याय खंडखंडखाद्य नामक अभूतपूर्व एवं अद्भुत ग्रन्थ है।

दर्शन के चमत्कार—

(1) **मेंढक की दर्शन भावना**—राजगृही नगरी के सम्राट श्रेणिक महाराजा एक बार अपनी चतुरंगी सेना एवं परिवारजनों के साथ श्री महावीर प्रभु के दर्शनार्थ

जा रहे थे। रास्ते में एक बावड़ी आई। उस बावड़ी में एक मेंढक रहता था। रथयात्रा में जा रहे लोगों के मुंह से निकलती जयघोष की ध्वनियां सुनकर मेंढक की सुषुप्त आत्मा जागृत हो गई। पूर्वजन्म में नंदमणीकार शेठ के भव में की हुई धर्माराधना स्मृतिपटल पर उभर आई। इस प्रक्रिया से पूर्व जन्म का जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। अतः दर्शन की तीव्र भावना से वह मेंढक भी बावड़ी से निकल कर श्रेणिक राजा के जुलुस के साथ चलने लगा। श्रेणिक राजा के घुड़स्वार सैनिकों ने दयावश उस मेंढक को लेजाकर बावड़ी में रख दिया। परन्तु जिसकी आत्मा प्रबल हुई है उसको कौन रोक सकता है ? मेंढक पुनः निकलकर आया और सैनिकों ने उसे दया भाव से, कि यह हमारे बीच कहीं मर न जाय ऐसा सोचकर, पुनः बावड़ी में रख दिया। परन्तु दर्शन की प्रबल भावना से मेंढक पुनः आया, और कूदता हुआ साथ में चलने लगा। इतने में योगानुयोग मेंढक का कूदना और घोड़ेसवार के घोड़े का पैर उस पर पड़ना, और देखते ही देखते मेंढक के शरीर के दो टुकड़े हो गये, उसके प्राण पंखेरू उड़ गये।

इधर श्रेणिक राजा समवसरण में पहुंचे और मेंढक का जीव दर्शन की प्रबल भावना में मरकर स्वर्ग में देव बना। वहां भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान से अपना पूर्वजन्म देखकर वह देव दर्शन की इच्छा को पूर्ण करने के लिए सीधे भगवान महावीर के समवसरण में आया। **"दर्शनं स्वर्ग सोपानम्"** अर्थात् दर्शन स्वर्ग प्राप्ति के लिए सीढ़ी है यह बात सिद्ध होती है।

मयणासुन्दरी और श्रीपाल के दर्शन—

महासती मयणासुन्दरी अपने कुष्ठ रोगी पतिदेव उंबरराणा को लेकर गुरुदेव मुनिचन्द्रसूरी के चरणों में प्रवचन श्रवण करने गई। गुरूदेव से शासन प्रभावना के उपाय की विधि जानी। मुनिचन्द्रसूरी आचार्य देव ने पास में ही स्थित आदिनाथ भगवान के दर्शन-पूजन एवं नवपदमय सिद्धचक्र बृहद् यन्त्र की भक्ति तथा आयंबिल की ओली की आराधना बताई। प्रातःकाल ही मयणा सुन्दरी अपने पति को साथ लेकर जिन चैत्यालय (मन्दिर) में प्रभुदर्शन करने गई। अत्यंत उल्लसित भक्ति भाव से महासती मयणासुन्दरी ने अद्भुत गुण-स्तुति की। देखते ही देखते ऐसा अद्भुत चमत्कार हुआ कि—

कुसुममाल निज कंठ थी रे लो, हाथ तण फल दीध रे।
प्रभुपसाय सहु देखता रे लो, उबरें ए बेउ लीध रे।।

कर्म की गति न्यारी

प्रभु के कंठ में से पुष्पमाला एवं हस्तकमल से फल दोनों उछलकर उंबरराणा के कंठ एवं हाथ में आ गई। प्रभु की अद्भुत गुण-स्तुति और यह चमत्कार वास्तव में महासती मयणासुन्दरी के द्वारा किये गये नमस्कार का शुभ परिणाम था।

दूसरा एक प्रसंग इस प्रकार है। रत्नसंचया नगरी के राजा कनककेतु की पुत्री मदनमंजुषा एक बार जिनमन्दिर में दर्शन-पूजा करने गई। श्रीऋषभदेव भगवान की अद्भुत गुण-स्तुति, प्रभुदर्शन एवं अष्टप्रकारी पूजा करके मन्दिर से बाहर निकली। इतने में मन्दिर के द्वार बन्द हो गये जो सैकड़ों उपाय के बावजूद भी एक महीने तक नहीं खुले। योगानुयोग श्रीपालकुमार अपने प्रातःकाल के दर्शन-पूजा के नित्य नियमानुसार इस नगर में प्रभु दर्शन करने मन्दिर के द्वार पर आये!

कुंवर गभारो नजरे देखतांजी,
बेहु ऊघडीयां बार रे;
देव कुसुम वरषे तिहांजी,
हुवो जयजयकारजी ॥

दर्शन की अत्यन्त उत्कंठा एवं शुभ भावना के परिणाम स्वरूप मन्दिर के द्वार पर आकर खड़े रहते ही, श्रीपालकुंवर की भक्ति भाव भरी दृष्टि द्वार पर पड़ते ही जिनमन्दिर के, एक महीने से बंद, द्वार एकाएक खुल गए। दर्शन मात्र से ही इतना अद्भुत चमत्कार होता है।

शंखेश्वर तीर्थ के द्वार खुले—

प्रसिद्ध स्तवन-सज्झायकर्ता पूज्यउदयरत्नजी महाराज एक बार विशाल पैदल संघ के साथ शंखेश्वरजी महातीर्थ यात्रा करने पधारे। मन्दिर के ठाकुर लोगों ने धन प्राप्ति के लोभ से द्वार बन्द कर दिये, और बिना पैसा दिये किसी को दर्शन नहीं करने देंगे - ऐसा ठाकुर लोग कह रहे थे। तीर्थयात्रा में दर्शनार्थियों को इस कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इस दुर्दशा को देखकर उदयरत्नजी म. संघ के सभी सभ्यों के साथ बंद दरवाजे के सामने बैठ गए। सच्चे मन से एवं भक्ति से बाहर बैठे-बैठे ही प्रभु की गुणस्तुति करने लगे—

पास शंखेश्वरा सार कर सेवका,
देवकां एवडी वार लागे ?
कोडी कर जोडी दरबार आगे खड़ा,
ठाकुरा चाकुरा मान मागे.... ॥पास शं.॥

इस तरह सभी एक धुन में गा रहे थे कि आश्चर्यकारी चमत्कार हुआ। सबके आश्चर्य के बीच मंदिर के द्वार अपने आप खुल गए। सभी ने उत्कृष्ट भाव से प्रभु के दर्शन किये। इस तरह प्रभुदर्शन से अनेक प्रकार के अद्भुत चमत्कार हुए हैं।

मगधाधिपति श्रेणिक राजा, जो कि अपने जीवन में सामायिक व्रत-पच्चक्खाणादि नहीं कर सके, ने चौथे अविरल सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक पर रह कर नित्य भक्ति-भाव भरी प्रभु पूजा करते हुए, तथा नित्य प्रभुदर्शन से विशुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, तथा आगे बढ़कर तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया। फलस्वरूप आगामी चौबीशी में प्रथम तीर्थंकर श्री पद्मनाभ स्वामी बनने का यश प्राप्त किया।

ग्यारहवीं शताब्दी के गुजरात की गादी के महाराज कुमारपाल भूपाल ने कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य महाराज से आर्हत् धर्म प्राप्त किया। इतने बड़े राज्य के राजा होते हुए भी वो प्रतिदिन त्रिकाल प्रभुदर्शन एवं त्रिकाल अष्टप्रकारी प्रभुपूजा आदि अद्भुद भक्ति भाव से नियमित करते थे। इस तरह राज्य के राजा होते हुए भी शुद्ध १२ व्रतधारी परम जैन श्रावक बने थे।

भक्ति में तल्लीन—

रामायण में जिस रावण को एक दुष्ट पात्र के रूप में वर्णित किया गया है, वे व्यक्तिगत रूप से स्वयं खराब नहीं थे, परन्तु उनके जीवन की एक घटना खराब थी। रावण जिनेश्वर परमात्मा का महान् उपासक था। अपनी पत्नी मंदोदरी के साथ अष्ठापद महातीर्थ पर नृत्य भक्ति में तल्लीन बना था। रावण स्वयं प्रभु के समक्ष वीणा बजाते हुए भक्ति गीत गा रहे थे और उनकी पत्नी नृत्य कर रही थी। भक्ति की धुन में एक प्रकार की मस्ती थी। योगानुयोग वीणा का एक तार टूट गया। संगीत में स्वर भंग होने लगते ही चतुर रावण ने सोचा कि मंदोदरी के नृत्य में कहीं विघ्न न पड़े, इसलिए रावण ने शीघ्रता से अपनी जाँघ की नस निकाल कर उस वीणा में जोड़ दी और उसी स्वर में वीणा बजती रही। भक्ति में तल्लीन, तन्मय और तदाकार बने हुए रावण ने तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया। परिणाम स्वरूप महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर बनकर वे मोक्ष में जायेंगे। ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है।

दर्शन में प्रतिस्पर्धा—

दशार्णभद्र राजा एक बार श्री महावीर प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण में जा रहे थे। उनके मन में ऐसा विचार आया कि "आज दिन तक अनुपम रिद्धि-सिद्धि सहित कोई न गया हो इस तरह मैं प्रभुदर्शनार्थ जाऊं।" अपने विचारानुसार दशार्णभद्र ने रिद्धि-सिद्धि का खूब प्रदर्शन किया। देवलोक के स्वामी इन्द्रमहाराजा दशार्णभद्र राजा के अहं भाव को तोड़ने के लिए प्रतिस्पर्धा में आए। वे भी दशार्णभद्र राजा से दुगुनी रिद्धि-सिद्धि करके सामने की दिशा में आने लगे। अपने प्रतिस्पर्धी को देखकर दशार्णभद्र राजा अपनी रिद्धि-सिद्धि दुगुनी करने लगे। यह देखकर इन्द्र ने अपनी रिद्धि-सिद्धि चौगुनी कर दी। इस तरह रिद्धि-सिद्धि का विस्तार करने में दोनों के वीच दुगुनी-चौगुनी की स्पर्धा जम गई। अन्त में जब दोनों ही प्रतिस्पर्धी समवसरण में पूर्व-पश्चिम द्वार से आ रहे थे, तब इन्द्र की अपने से चौगुनी रिद्धि-सिद्धि देखकर, अपनी हार मानते हुए दशार्णभद्र राजा ने अनुपम वैराग्य भाव से सर्व रिद्धि-सिद्धि का त्याग करके प्रव्रज्या (दीक्षा) अंगीकार करके रजोहरण (धर्मध्वज) लेकर प्रभु के दर्शन करके वंदना की। यह दृश्य देखकर इन्द्र ने भी अपनी हार मानते हुए दशार्णभद्र मुनि की वंदना की और कहा "हे महात्यागी ! रिद्धि-सिद्धि दुगुनी करनी तो मुझे आई, परन्तु आपकी तरह रिद्धि-सिद्धि का त्याग करना मुझे नहीं आया। अतः सही अर्थ में आप जीते।" इस तरह भी प्रभु के दर्शन-वंदन किये। ऐसे अनेक दृष्टांत शास्त्रों में भरे पड़े हैं।

देखने की अजब शक्ति—

बर्तमान काल की बात है कि यूरिगेलर नाम के एक व्यक्ति ने कई वैज्ञानिकों की उपस्थिति में १५ फुट रखे हुए एक टेबल को बिना हाथ लगाये, बिना किसी साधन एवं माध्यम के, सिर्फ आँखों से टक टकी लगाकर देखने मात्र से टेबल को हटाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख दिया। दूसरी बार १५-२० फुट दूर रखे हुए स्टील के एक चम्मच को बिना हाथ लगाये देखने मात्र से मोड दी, एवं आलमारी की स्टील की एक तालो, एवं थाली को दूर से ही मात्र दृष्टि से देखते हुए मोड़कर तोड़ दिया। यह प्रयोग वैज्ञानिकों की उपस्थिति में हुआ, जिसमें मात्र आंखों से देखने की करामात थी, परन्तु यह कोई जादू नहीं था। Extra Sensory perception की छपी हुई पुस्तक में 6th sense (E. S. P.) के ऐसे कई प्रयोग दिये गये हैं।

भारतीय तांत्रिक प्रयोगों में त्राटक मुद्रा के ऐसे कई प्रयोग मिलते हैं।

स्मरण शक्ति से फोटो खींचना—

एक सज्जन केमरे को अपने ललाट पर उल्टा रखकर, जिसका लेन्स ललाट पर लगा हो उसके बटन दबाकर भूतकाल में देखे हुए दृश्यों का फोटो खींचकर दिखाता था। वह केमरा "POLIROD" था जिसमें तुरन्त सीधे ही POSITIVE COPY बाहर निकलती थी, और वह उसे उपस्थित लोगों के हाथों में दे देता था। लोग किसी भी दृश्य का फोटो निकालने के लिये उसे कहते थे, परन्तु उसकी एक शर्त थी कि वह दृश्य उसका देखा हुआ होना चाहिए। एक बार लोगों ने उसे कहा कि इण्डिया के BOMBAY AIR PORT का फोटो निकाल के बताओ। एक ही मिनट में उसने केमरे को अपने ललाट पर लगाया। आंख बन्द कर उसने उस दृश्य को याद किया और जल्दी से फोटो निकालकर लोगों के हाथ में दे दिया। उस फोटो में विमान इधर-उधर खड़े थे, और SANTACRUZE AIR PORT-INDIA का बोर्ड लगा हुआ था। इस प्रकार उसने कई आश्चर्य करके दिखाये। इसमें देखे हुए दृश्य को स्मृति पटल पर लाकर उसके छायाचित्र को निकाला जाता था। इस प्रकार देखे हुए दृश्यों की एकाग्रता को स्मृति पटल पर लाना, और उसे छायाचित्र के रूप में बाहर दिखाना, ऐसे आश्चर्यकारी कार्य का होना आत्मा की एवं इन्द्रियों की शक्ति का अच्छा प्रमाण है। ऐसे कई प्रयोग वैज्ञानिक जगत में E S.P. के क्षेत्र में हुए हैं।

दर्शनावरणीय कर्म निवारण पूजा की ढाल—

पूज्य वीरविजयजी महाराज ने चौसठ प्रकारी पूजा लिखी है जिसमें ८ कर्मों के विषय में ८ भिन्न-भिन्न पूजा की ढालें बनाई है। एक-एक पूजा में ८-८ ढालें हैं।अतः उसे चौसठ प्रकारी पूजा कहते हैं। दूसरे क्रम पर दर्शनावरणीय कर्म की पूजा ढाल में उन्होंने दर्शन एवं दर्शनावरणीय कर्म के स्वरूप को बताते हुआ लिखा है कि—

ए आवरणबले करी, न लह्यु दर्शन नाथ।
नैगम दर्शने भटकीयो, पाणी वलोव्यु हाथ।।
पूरण दर्शन पामवा, भजिए भवि भगवंत।
दूर करे आवरणने, जिम जलथी जलकांत।।

हे भगवंत! आत्मदर्शनगुण का आवरण करने वाले दर्शनावरणीयकर्म के कारण मैं आपका दर्शन नहीं कर सका। अर्थात् आपका दर्शन (शासन) नहीं पा

सका, और नैगमनयादि रूप एकांत दर्शन से संसार में भटकता रहा, मात्र हाथों से पानी में मथन करता रहा, परन्तु कोई सार-नवनीत प्राप्त नहीं हुआ। अब पूर्ण रूप से आपका दर्शन प्राप्त करने के लिए आपके दर्शन एवं भक्ति कर रहा हूँ, जिससे दर्शनावरणीयकर्म दूर हों, और आपका दर्शन पूर्ण रूप से कर पाऊं। जैसे जलकांत मणि से जल दूर होता है। दूसरी ढाल में—

तुज मूरति मोहनगारी, रसिया तुज मूरति मोहनगारी,
द्रव्यह गुण परजाय ने मुद्रा, चउ गुण प्रतिमा प्यारी।
नयगम भंग प्रमाणे न निरखी, कुमति कदाग्रहधारी ॥

वीरविजयजी महाराज ने पूजा की ढाल में भक्ति के माध्यम से कर्मशास्त्र की अद्भुत बातें बताई हैं। वे उपरोक्त अंश में कहते हैं कि—हे ज्ञानीप्रभु! आपकी मूर्ति मन मोहने वाली है। सभी के लिए अत्यन्त मनमोहक है। द्रव्य, गुण, पर्याय और मुद्रा (आकृति) इन चार प्रकारों से अत्यन्त गुणवान आपकी प्रतिमा बड़ी प्यारी लगती है, दिल में भक्ति के भाव को उभराती है, परन्तु कुमति-कदाग्रह वाले नय, गम, भंग (भेद) प्रमाणे आदि से वास्तव में देख नहीं पाते हैं, अर्थात् जो दर्शन भी नहीं कर पाते हैं और पहचान भी नहीं पाते हैं, वे मूढ-गंवार कर्म बांधते हैं। इस तरह वीरविजय महाराज ने पूजा की ढाल में भक्ति के माध्यम से कई भाव भरे है। कर्मशास्त्र के सैद्धांतिक विषयों में उनकी विचारधारा को आगे और देखेंगे।

अवधिज्ञान और अवधिदर्शन—

लक्षण अवधिदर्शनावरणक्षयोपशमादिवशाद् विशेष—ग्रहणवै मुख्येनरूपिद्रव्यविषयक सामान्यावबोधरूपत्वमवधिदर्शनस्य लक्षणम् ॥

आर्हत् दर्शन दीपिका में पू० मंगलविजयजी महाराज ने अवधिदर्शन का लक्षण करते हुए बताया है कि अवधिदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला विशेष को ग्रहण न करते हुए रूपिद्रव्यविषयक सामान्य बोध को अवधिदर्शन कहते हैं।

ज्ञान और दर्शन ये दोनों सहवर्ती हैं। क्रमभावी है। दर्शन भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। वस्तु का सामान्यकाररूप— निराकाररूप जो बोध होता है वह दर्शन है और वही जब साकार-विशेषरूप होता है तब ज्ञान बन जाता है। अतः

अवधिज्ञानी के जानने का जितना क्षेत्र है उतना ही अवधिदर्शनी के देखने का क्षेत्र है। अतः अवधिदर्शन से नियत अवधि तक के क्षेत्र के रूपी द्रव्यों को सामान्यरूप से अवधिदर्शन से देखना, और उन्हें ही विशेषरूप से अवधिज्ञान से जानने का कार्य होता हैं। नरक के नारकी जो विभंगज्ञानी है वे तथा चारों गति के अवधिज्ञानी इस अवधिदर्शन के मालिक है।

अवधिज्ञान के जो ६ भेद हैं, वे ही सभी भेद अवधिदर्शन के हैं। तीर्थंकर परमात्मा का जीव पूर्वजन्म से ही यह गुण लेकर वर्तमान भव में आते हैं।

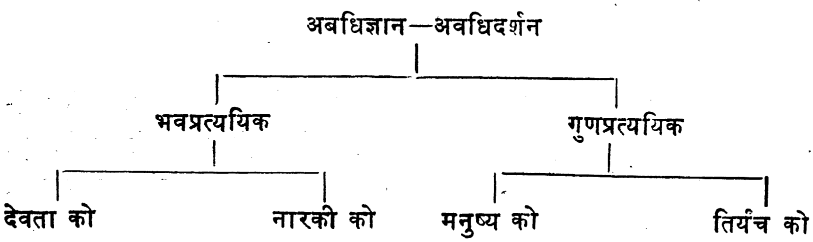

अवधिज्ञानी—अवधिदर्शनी—जघन्य से अनन्तरूपी द्रव्यों को, तथा उत्कृष्ट से सर्वरूपी द्रव्यों को देखते हैं। क्षेत्र से जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, तथा उत्कृष्ट से देखते-जानते हैं। काल से जघन्य—आवलि के असंख्यातवें भाग के जितने काल के अतीत, अनागत पर्यायों को देखते हैं। भाव से—एक-एक द्रव्य के जघन्य से चार भाव तथा उत्कृष्ट से असंख्य पर्यायों को अवधिदर्शन-ज्ञान से जानते-देखते हैं। इसका निराकार सामान्य उपयोग अवधिदर्शन तथा साकार (विशेष) उपयोग को अवधिज्ञान कहते हैं ऐसा श्री नन्दिसूत्र में कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव को अवधि-विभंग रूप में होता है। सम्यक्त्वी अवधिज्ञान वाले को अवधिदर्शन होता है।

इस प्रकार के ऐसे अवधिदर्शन गुण पर आये हुये दर्शनावरणीय कर्म के आवरण को अवधिदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। यह आत्मा की जघन्य-उत्कृष्ट से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा प्रकार के रूपी द्रव्यों को देखने की शक्ति को आवरित—आच्छादित कर देता है और आत्मा का अवधि दर्शन-ज्ञान गुण-ढक-दब जाता है। क्षायोपशमिक भाव से यह उत्पन्न होता हैं। यह वीरविजयकृत अवधिदर्शनावरणीय पूजा की ढाल का भाव है। आत्मा को बिना इन्द्रियों की मदद से सीधे प्रत्यक्षरूप से रूपी पदार्थों का निराकार-सामान्य बोध होना यह अवधिदर्शन उपयोग तथा साकार रूप से विशेष बोध होना यह अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिदर्शनगुण अवधिदर्शनावरणीय कर्म के आवरण से दबता है, और अवधिज्ञानगुण अवधिज्ञानावरणीय कर्म के आवरण से दबता है।

यह आत्मा का मूलभूत अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन गुण है। इन्द्रियां—मन तथा शरीरादि पदार्थ जड़ हैं, अजीव है। अतः इनका सीधा स्वभाव या गुण नहीं है कि—देखना या जानना। अतः किसी इन्द्रिय एवं मन की सहायता से समस्त लोक-अलोक क्षेत्र देखना-जानना तथा उसमें के रूपी-अरूपी द्रव्यों को अनन्त गुण-पर्यायों के साथ देखना-जानना यह आत्मा का मूलभूत स्वभाव है। यही अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन या केवलज्ञान-केवलदर्शन गुण कहलाता है। इसका स्वरूप वर्णन करते हुए इस प्रकार कहा है कि—**केवलं शुद्धम्, तदावरणापगमात् सकलं वा केवलम्, तत्प्रथम-तयैव निःशेष तदावरणविगमतः सपूर्णतोत्पत्तेः असाधारणं वा केवलम्, अनन्य-सदृशत्वात्। अनन्तं वा केवलम् ज्ञेयाऽनन्तत्वाद्—अनन्तकालावस्थापित्वाद्वा, निर्व्याघातं वा केवलम्, लाकेऽलाके वा प्रसत्तौ व्याघातामावात्, तथा केवलम्—एकम्, मत्यादि चतुष्क रहित्वात्।**

केवलज्ञान सम्पूर्ण शुद्ध है क्योंकि उसका आवरण रूप जो केवलज्ञानावरणीय कर्म था, उसके सर्वथा क्षय हो जाने से यह पूर्ण शुद्ध है। केवलज्ञान प्रथम से ही सकल-सर्व पदार्थग्राही है क्योंकि पहले से ही सम्पूर्ण केवलज्ञानावरणीय क्षय होने से उत्पन्न हुआ है। अतः यह पहले से ही सम्पूर्ण होता है। यह केवल ज्ञान असाधारण ज्ञान है क्योंकि इसके जैसा दूसरा कोई सदृश-समान नहीं है, अतः यह केवलज्ञान-केवलदर्शन अनन्त है, अन्त रहित है। इसका कहीं अन्त नहीं है, क्योंकि जानने देखने योग्य जगत के पदार्थ-द्रव्य अनन्त होने से यह भी अनन्त हैं तथा उत्पन्न होने के बाद अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला होने के कारण—जिसका काल की दृष्टि से भी कभी अन्त होने वाला न होने से यह काल की दृष्टि से भी अनन्त कहा जाता है। इसलिये इसे अप्रत्तिपाति कहते हैं। केवलज्ञान-दर्शन-निर्व्याघात है, व्याघात रहित है। लोक या अलोक में प्रवृत होते हुए भी इसका व्याघात नहीं होता है, कोई व्याघात नहीं कर सकता है। इसका बाधक कोई नहीं है। केवलज्ञान-दर्शन के मार्ग में कोई अव-रोधक-बाधक नहीं बन सकता है। अतः यह निर्व्याघात है तथा केवलज्ञान-एकज्ञान है। केवलदर्शन-एक दर्शन है। इसकी उपस्थिति में अन्य ज्ञान-दर्शन उपस्थित नहीं रहते हैं। जैसे सूर्य के उदय होने से चन्द्र, तारा, दीपकादि का प्रकाश सूर्य के प्रकाश में समा जाता है, फिर उनका स्वतन्त्र प्रकाश नहीं रहता है, वैसे ही केवलज्ञान-दर्शन हो जाने के बाद मति-श्रुतादि ज्ञान तथा चक्षु-अचक्षु आदि दर्शन स्वतन्त्र-अलग नहीं रहते हैं, सभी इसमें मिल जाते हैं। परन्तु जैसे सूर्य के न रहने पर अर्थात् अस्त रहने पर चन्द्र, तारा, दीपक आदि का प्रकाश रहता है वैसे ही केवलज्ञान-दर्शन न

रहने पर अर्थात् आवरित-आच्छादित रहने पर वे मति-श्रुत आदि ज्ञान तथा चक्षु-अचक्षु आदि दर्शन स्वतन्त्र रूप से रहते हैं, परन्तु केवलज्ञान-दर्शन की उपस्थिति में नहीं रहते हैं। अतः केवलज्ञान पूर्ण-सम्पूर्ण है। इसमें अन्य ज्ञान-दर्शन की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवलज्ञान-दर्शन के बाहर अन्य किसी भी ज्ञान-दर्शन की रत्तीभर मात्रा का अस्तित्व भी नहीं है।

श्री जिनवरने प्रकट थयुरे, क्षायिक भावे ज्ञान।
दोष अढार अभाव थी रे, गुण उपन्यां ते प्रमाण रे॥
भविया वन्दो केवलज्ञान, पंचमी दिन गुण खाण ॥१॥

अनामी ना नामनो रे, किश्यो विशेष कहेवाय।
ए तो मध्यमा वैखरी रे, वचन उल्लेख ठराय ॥२॥

ध्यान टाणे प्रभु तुं होय रे, अलख अगोचर रूप।
परा पश्यंती पामी ने रे, कांइ प्रमाणे मुनि भूप रे ॥३॥

छती पर्याय जे ज्ञानती रे, ते तो नवि बदलाय।
ज्ञेयनी नवनवी वर्तना रे, समय मां सर्व जणाय ॥४॥

बीजा ज्ञानतणी प्रभा रे, एहमां सर्व समाय।
रवि प्रभा थी अधिक नहीं रे, नक्षत्र गण समुदाय रे ॥५॥

गुण अनंत ज्ञानना रे, जाणे धन्य नर तेह।
विजयलक्ष्मी सूरि ते लहे रे, ज्ञान महोदय गेह ॥६॥

केवलज्ञानी-दर्शनी अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सर्व द्रव्यक्षेत्र-काल एवं भाव-समकाल, एक साथ ग्रहण करते हैं, जानते-देखते हैं। इसमें काल का भी भेद नहीं रहता। भूत-वर्तमान-भावी के समस्त भावों को एकसाथ जानते-देखते हैं। अतः यह त्रिकालज्ञान है। इसके स्वामी त्रिकालज्ञानी-दर्शनी कहलाते हैं। यह केवलज्ञान-दर्शन स्वरूप से सभी केवलियों में समान रूप से रहता है। अतः केवलज्ञान का स्वामी-केवली, और केवलदर्शन का स्वामी केवलदर्शी अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी सभी में केवलज्ञान-केवलदर्शन समान है, एक सरीखा है। इसके मालिक चाहे साधु हो, या संसारी, देहधारी हो या सिद्धात्मा, तीर्थंकर हो या गणधर, स्त्री या पुरुष, सभी का केवलज्ञान-दर्शन एक सरीखा-समान रूप होता है, क्योंकि यह सर्वावरण के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न होता है।

नमुत्थूणं सूत्र में "अप्पडीहयवरनाणदंसणधराणं" पाठ है । अप्पडीहय = अप्रतिहत, वर = श्रेष्ठ, नाण-दंसण = केवलज्ञान, केवलदर्शन, धराणं = धारण करने वाले, अर्थात् अप्रतिहत (कभी भी नष्ट न होने वाले) केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले अरिहंत भगवान होते हैं । वे पूर्णज्ञानी-सम्पूर्णदर्शनी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी कहलाते हैं । यहां "अप्रतिहत" विशेषण नाश न होने के अनन्त अर्थ में है ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन में कोई खास लम्बा अन्तर नहीं है । दर्शन भी जहां ज्ञानाकार ही है वहाँ अन्तर सिर्फ इतना ही है कि, दर्शन सामान्याकार, निराकार-निर्विकल्पक अव्यक्त होता है, दर्शन से इस प्रकार सामान्य निराकार अव्यक्त बोध होता है, और ज्ञान विशेष रूप, साकार-सविकल्प, और व्यक्त स्पष्ट बोधकारक है । अतः ज्ञान विशेषात्मक सामान्यरूप होता है । छद्मस्थ जीवों को प्रथम सामान्योपयोगी दर्शन होता है, और बाद में विशेषोपयोगी ज्ञान होता है, जबकि सर्वज्ञ केवली को प्रथम समय में केवलज्ञान होता है और दूसरे समय केवलदर्शन होता है । ज्ञान-दर्शन से जानने और देखने की क्रिया होती है । केवलदर्शन का लक्षण इस प्रकार बताया है—

—"केवलदर्शनावरणक्षयादि निमित्तवशाद् त्रैकालिक—वस्तुविषयकसामान्याव बोधरूपत्वं केवलदर्शनस्य लक्षणम् ।।

अर्थात् केवलदर्शनावरणीय कर्म क्षयादि से उद्भूत और तीनों काल के पदार्थविषयक सामान्यबोध को केवलदर्शन कहते हैं । इसके अधिकारी केवली हैं । चारों घनघाती कर्मों के क्षय से यह अवस्था तेरहवें गुणस्थान पर प्राप्त होती है । प्रथम समय में साकार उपयोग रूप केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और दूसरे समय में निराकारदर्शन उपयोग-केवलदर्शन प्राप्त होता है । बाद में समयान्तर अपयोग होता रहता है । यहाँ मतभेद अवश्य है । सिद्धसेन दिवाकरसूरि समयान्तर न मानते हुए युगपत् मानते हैं । उभय स्वरूपी विषय की समीप दशा में भी केवलज्ञान तमाम विशेषों को ही ग्रहण करता है जबकि केवलदर्शन सर्वसामान्य को ग्रहण करता हैं । इस तरह केवलज्ञान और केवलदर्शन का स्वभाव है । इस प्रकार युगपद्वादी और क्रमिकवादियों में परस्पर में चर्चा है ।

दर्शन चतुष्क के स्वामी दर्शनियों की चार प्रकार की संख्या में अवधिदर्शन वालों की संख्या सबसे कम है । चक्षुदर्शन वालों की संख्या अवधिदर्शन वालों की संख्या से असंख्यगुनी अधिक है और इस संख्या से अनन्तगुनी संख्या केवलदर्शन वालों की है । और इनसे अनंत से भी अधिक अचक्षुदर्शन वालों की संख्या है ।

दर्शनावरणीय कर्म के दर्शन चतुष्क और निद्रापंचक नामक दो प्रमुख भेदों में प्रथम दर्शन-चतुष्क का वर्णन किया। अब द्वितीय विभाग निद्रापंचक का विचार करते हैं।

निद्रापंचक—

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के ३३वें "कर्मप्रकृति" अध्ययन के ५ वें श्लोक में पांच निद्रा का नामनिर्देश इस प्रकार किया है—

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयला पचलाय
तत्तो य थीणगद्धि, पंचमा होइ नायव्वा ॥५॥

निद्रापंचक

१	२	३	४	५
निद्रा	निद्रानिद्रा	प्रचला	प्रचला प्रचला	थीणद्धि

जैन दर्शन में पांच प्रकार की निद्रा बताई गई है। संसार में कहीं भी किसी भी धर्म या दर्शन में निद्रा के विषय में ऐसा वर्णन नहीं मिलेगा। जैसाकि जैनदर्शन के कर्मशास्त्र में मिलता है। निद्रा अर्थात् नींद आना या नींद लेना। यह क्रियापरक है। निद्रा आत्म गुण स्वरूप नहीं है परन्तु कर्म उदय जन्य है। ज्ञाता-द्रष्टाभाववान् आत्मा जो स्वयं ज्ञानदर्शनादि गुण से देखने–जानने आदि की क्रिया करती है वह आत्मा निद्रा लेने का काम नहीं कर सकती है। क्यों करें ? क्योंकि निद्रा ज्ञान-दर्शन का कार्य बन्द कर देती है। निद्रावस्था में आत्मा की जानने–देखने आदि की क्रिया बन्द हो जाती है। अतः निद्रा आत्मगुण परक नहीं, परन्तु कर्मोदय जन्य है। कर्मोदय जन्य होने के कारण निद्रा आत्मगुण घातक है। अतः यह घाती कर्म की प्रकृति में गिनी जाती है। आत्मगुण ज्ञान-दर्शन आदि का घात करने के कारण यह घातीकर्म का काम करती है। इतने विवेचन के बाद यह प्रश्न निरर्थक होता है कि – नींद अच्छी है या खराब/नींद को कौन अच्छी मानेगा ? बस यही संसार के व्यवहार और अध्यात्म शास्त्र में बड़ा अन्तर है। सांसारिक व्यवहार में नींद को अच्छी मानी गई है। आयुर्वेद शास्त्र में नींद को उपयोगी मानी गई है। तथा आरोग्य की दृष्टि से भी नींद उपयोगी मानी है, परन्तु कर्मशास्त्र के नियमानुसार आत्मगुणों का घात करने वाली तथा ज्ञान-दर्शन की अवरोधक नींद को अच्छी नहीं मानी गई है। अतः आध्यात्मिक महापुरुष नींद से लड़ते हुए उसे कहते हैं कि—

वेरण निद्रा तुं क्यां थी आवी,
सूइ सूइ ने सारी रात जगावी ॥१॥

निद्रा कहे हुं तो बाली ने भोली,
मोटा मोटा मुनिवर ने नांखु छुढोली ॥२॥

निद्रा कहे हुं तो जमडा नी दासी,
एक हाथ मां मुक्ति ने बीजा हाथमां फांसी ॥३॥

चालो चेतनजी सिद्धाचल जइए,
आदीश्वर भेटी पावन थइए ॥४॥

आनंदघन कहे सुण भाइ बनिया,
आप मुआ पछी डूब गई दुनियां ॥५॥

आनंदघन योगी निद्रा को कह रहे है कि हे वैरी ! मेरी (आत्मा की) दुश्मन निद्रा ! तु कहां से आ गई ? क्यों आई ? मेरी साधना में तेरी कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत वर्षो की साधना के बाद मैंने यह जागृत अवस्था पाई है, और उसे तूँ क्यों बिगाड़ रही है ? निद्रा कह रही है, मैं तो भोली-भाली हूँ. आपके आमंत्रण से आयी हूं, दूसरी तरफ मैं यम की दासी के रूप में "चिर निद्रा" के नाम से प्रसिद्ध हूँ। मेरे एक हाथ में मुक्ति भी है और दूसरे हाथ में फांसी भी है। इस प्रकार अध्यात्म योगियों ने निद्रा को हितकर नहीं मानी।

ठीक अध्यात्म योगियों के विपरीत संसारी गृहस्थ नींद न आए तो नींद के लिए छटपटाता है। उसे लाने के लिए हजार उपाय करता है। नींद की गोलियां और इन्जेक्शन भी लेता है। किसी भी तरह वह नींद में पड़ा रहना चाहता है। एक दृष्टि से सोचने पर बात सही भी लगती है कि—जिसके सामने आत्म कल्याण का कोई लक्ष्य ही नहीं है वह विचारा नींद के लिए प्रवृत्ति नहीं करेगा तो क्या करेगा ? नीतिकार कहते हैं कि—

जो सोवत है सो खोवत है।
जो जागत है सो पावत हैं॥

अर्थात् जो नींद-आलस-प्रमाद में पड़ा रहता है वह बहुत कुछ लाभ खोता है। उसके हाथ से लाभ-शुभ के कई प्रसंग चले जाते हैं, और जब जागता है तब सुनकर पछताता है। परन्तु कहते है कि—

"अब पछताये क्या होता है, जब चिड़िया चुग गई खेत ।"

प्रभु महावीर को प्रश्न—

एक बार की बात है। समवसरण में श्री वीरप्रभु की देशना के बाद जयन्ती श्राविका ने प्रभु को प्रश्न पूछा कि—हे कृपानाथ ! इस संसार में किसका सोना अच्छा है ? और किसका जागना अच्छा है ? उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने फरमाया कि—

"जागरिया धम्मिणं, अधम्मिणं तु सुत्तया सेया ।"

धर्मी आत्माओं का जागना अच्छा, और अधर्मी आत्माओं का सोते हुए रहना अच्छा है क्योंकि धर्मी जागता रहेगा तो पाप नहीं करेगा, धर्म का ही आचरण तथा प्रचार-प्रसार करेगा। जबकि अधर्मी यदि जागता रहेगा तो पाप करता रहेगा, कइओं को अपने पाप में सहभागी बनाएगा। इस तरह अधर्मी बहुत अनर्थ करेगा। अतः धर्मी का जागना, और अधर्मी का सोते रहना स्व–पर उभय के लिए लाभदायक रहेगा। परन्तु आज इस कलयुग में ठीक इससे विपरीत देखा जा रहा है। धर्मी सो रहे हैं, और अधर्मी जाग रहे है। अब आप ही सोचिये कि क्या परिणाम आयेगा ? अधर्मी के जागते रहने से पापाचार बढ़ता रहेगा, और धर्मी के सोते रहने से धर्माचरण घटता रहेगा। कलियुग में यही प्रमाण बढ़ता है। वर्तमान जगत् में ठीक विपरीत यही दृश्य हम देख रहे हैं, अतः आज भयंकर कलयुग चल रहा है। यह कहने में रत्ती-भर भी संदेह नहीं होता है।

आरोग्य की दृष्टि से निद्रा—

यद्यपि निद्रा कर्मोदय जन्य है, एवं कर्मबंध कारक है, तथापि आरोग्य की दृष्टि से उचित समझकर भी हम नींद लेते है। हर वस्तु यदि प्रमाण में रहे तो ही लाभदायी होती है। अतः निद्रा भी यदि सीमित-परिमित एवं मर्यादित रहे वहां तक ही उचित है। जैसा कि कहते हैं—

"Early to bed and Early to rise,
makes a man healthy, wealthy and wise."

वहेला सूवे अने वहेला ऊठे ते वीर।
बल-बुद्धि धन वधे ने सुख मां रहे शरीर ॥

अर्थात् जल्दी सोना और जल्दी उठना ही शारीरिक और मानसिक आरोग्य के लिए लाभदायक होता है, परन्तु वर्तमान काल में लोगों ने सोने-उठने के समय की काल मर्यादा सर्वथा तोड़ दी हो ऐसा लगता है। क्योंकि १२– १ बजे तक लोग सोते भी नहीं है, और सुबह सूर्योदय के बाद १-२ घंटे अर्थात् ८-९ बजे तक उठने की आदत बनाते हैं। यहां आयुर्वेदशास्त्र कहता है कि मनुष्य जितना ही सूर्योदय के बाद देरी से उठता है उतना ही उसका आयुष्य कम होता हैं, जितना सूर्योदय से पहले उठता है उतना उसका आयुष्य स्वस्थ रहता है। अत: सोने के समय के विषय में आयुर्वेदशास्त्र कहता है कि—रात्रि के द्वितीय पहर में सोना चाहिए, और दो प्रहर = ६ घंटे की परिमित निद्रा लेकर रात्रि के चतुर्थ प्रहर में सूर्योदय से चार घड़ी पहले उठना चाहिए। (एक प्रहर = ३ घंटे, १ घड़ी = २४ मिनिट, और २ घड़ी = ४८ मिनिट) वैसे तो मनुष्य के लिए ६ घंटे की नींद पर्याप्त है, परन्तु अत्यन्त गहरी-प्रगाढ नींद के लिये ३ घंटे भी पर्याप्त होते हैं। स्वप्नभरी नींद या अर्धनिमिलित तंद्रा जैसी नींद लम्बे काल तक भी आये तो भी सन्तोष नहीं होता है।

पौ-फटने के पहले ब्राह्ममुहूर्त में उठने से जीवन स्फुर्तिमय, एवं नियमित रहता है तथा प्रभु-स्मरण, सामायिक, पूजा-पाठ, जाप-ध्यान आदि बड़े आनन्द से अच्छे शान्त वातावरण में अच्छी तरह होते हैं। यही उपासना यदि देरी से की जाए तो अस्थिर चित्त से होती है।

प्रश्न—सोते हुए को जगाना आसान है ? स्वाभाविक बात है कि नींद में सोए हुए को जगाना आसान है, परन्तु नींद उड़ जाने के बाद भी जो आलस्य में पड़ा रहे उसे उठाना एक प्रकार का सिरदर्द है।

पाँच प्रकार के प्रमाद—

मज्जं विषय-कषाया निद्दा विकहा य पञ्चिमी भणिया।
ए ए पञ्च पमाया जीवं पाडंति संसारे।

५ प्रकार के प्रमाद

मद	विषय	कषाय	निद्रा	विकथा
८	२३	४	५	४ = ४४

शास्त्रों में बताए गए प्रमाद के भेदों में निद्रा भी गिनी गई है। अतः अत्यन्त कीमती और दुर्लभ मनुष्य जन्म प्रमाद में बीत न जाए उसका हमें पूरा ध्यान रखना चाहिए। कहीं ऐसा न हो जाय कि—

रात गंवाइ सोय के, दिवस गंवायो खाय ।
हीरा जन्म अमोल था, कोडी मुल्ये जाय ॥

इसलिए नीतिकार कहते हैं कि—"**श्वान निद्रा, बकः ध्यानं**" हमारी नींद कुत्ते जैसी अल्प निद्रा वाली होनी चाहिए और बगले की तरह स्थिर चित्त वाला स्थिरता वाला ध्यान होना चाहिए। (यहां एक अंशी उपमा दी गई है सर्वांशी नहीं है।)

आहार और नींद में सम्बन्ध—

आहारे ऊंघ वधे घणी, निद्रा दुःख भण्डार ।
नैवेद्य धरी प्रभु आगले, वरीय पद अणाहार ॥

वीरविजयजी महाराज कहते हैं कि—ज्यों-ज्यों आहार का प्रमाण बढ़ता हैं त्यों-त्यों नींद का प्रमाण भी बढ़ता जाता हैं। ऐसी निद्रा दुःख का भण्डार रूप होती हैं। इस नींद के पीछे अनेक दुःख आते हैं। इसलिए इस कर्मोदय को टालने के लिए आहार का अर्थात् नैवेद्य का भरा हुआ थाल प्रभु के आगे त्याग भावना से अर्पण करें जिससे अणाहारी-निराहारी मोक्ष का पद प्राप्त कर सकते हैं। योगशास्त्र में भी कहते हैं कि आहार और निद्रा में परस्पर जन्य-जनक भाव-सम्बन्ध है। आहार बढ़ने से नींद बढ़ती हैं और नींद बढ़ने से आहार बढ़ता है। दोनों बढ़ते ही जाये तो बुद्धि जड़ता की तरफ ढलती है। अतः अल्पाहारी-हिताहारी-मिताहारी-परिमिताहारी एवं अल्प निद्रालु बनना ही लाभदायक है।

निद्रा का शास्त्रीय स्वरूप—

सुह-पडिबोहा निद्दा णिद्दा निद्दा य दुक्ख-पडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयल-पयला उ चंकमओ ॥
दिण-चिंति अत्थ-करणी थीणद्धी अद्ध-चक्कि-अद्ध-बला ।
[कर्मग्रन्थ]

(१) निद्रा (२) निद्रा-निद्रा (३) प्रचला (४) प्रचला-प्रचला (५) थीणाद्धि (स्त्यानर्द्धि-स्त्यान-गृद्धि)।

(१) निद्रा—सुह-पडिबोहा निद्दा।

सुखप्रबोधस्वभावावस्थाविशेष रूपत्वं. सुखजागरणस्वभावस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं वा निद्राय लक्षणम्।

जिस प्रकार की नींद में आसानी से जग सकते हैं, उसे निद्रा कहते हैं। जिस नींद में सुख रूप से जागने का स्वभाव हो अथवा जगाने पर एक क्षण में आसानी से जो जाग जाय उसे प्रथम प्रकार की निद्रा कहते हैं।

(२) निद्रा-निद्रा—निद्दा निद्दा य दुक्ख-पडिबोहा।

दुःखजागरणस्वभावस्वापावस्थ विशेषरूपत्वं, दुःखप्रतिबोधस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं वा निद्रानिद्राय लक्षणम्॥

नींद की एक विशेष अवस्था जिसमें बड़ी मुश्किल से, बहुत टटोलने पर उठे, उसे दूसरे प्रकार की निद्रा कहते हैं।

(३) प्रचला—पयला ठिओवविट्ठस्स।

स्थितोपस्थितस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं प्रचलाय लक्षणम्।

जिसमें खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी नींद आवे उसे प्रचला प्रकार की नींद कहते हैं।

(४) प्रचला-प्रचला—पयल-पयला उ चंकमओ।

चङ्क्रमणविषयक स्वापावस्था विशेषरूपत्वं प्रचलाप्रचलाय। लक्षणम्।

चलते-चलते जो नींद आती है उसे प्रचला-प्रचला नामक नींद कहते हैं।

(५) थीणाद्धि—दिण-चिंति अत्थ-करणी थीणद्धी अद्ध-चक्कि-अद्ध-बला।

दिनचिन्तितार्थाऽभिकाङ्क्षाविषयकस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं, जाग्रदवस्थाध्यवसितार्थसंसाधनविषयकाभिकाङ्क्षानिमित्तकस्वापावस्थाविशेषरूपत्वं वा सत्यानर्द्धेर्लक्षणम्॥

दिन में जिस विषयक-कार्य का तीव्र आकांक्षा से जो चिन्तन किया हो और दिन में वह कार्य न करके सो गया हो, और रात को नींद में से उठकर उस कार्य को निद्रावस्था में ही करें, वैसी नींद को थीणद्धिस्त्यानर्द्धि नामक पांचवें प्रकार की नींद कहते हैं। इस प्रकार की नींद में मनुष्य ठीक जागते हुए की तरह सारे ही काम कर लेता है। फिर भी उसे पता नहीं रहता है। पुनः आकर सो जाता है। सुबह उठने के बाद कुछ भी याद नहीं रहता है कि मैंने यह काम किया है। इस प्रकार की नींद में अर्ध-चक्रवती अर्थात् वासुदेव के आधे बल के जितनी शक्ति रहती है। परन्तु यह किसे ? इस प्रश्न के उत्तर में कर्मशास्त्रकार स्पष्टीकरण करते हैं कि जो जीव वज्रऋषभनाराच संघयण नामक प्रथम संघयण वाला होता है उसे यदि थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीयकर्म उदय हो तो उसमें अर्धचक्रवर्ती अर्थात् वासुदेव के बल का आधा बल-शक्ति थीणद्धि निद्रा के उदय में रहती है। परन्तु ऐसा जीव मरकर नरक में जाता है "छेवट्ठा नामक छट्ठे प्रकार का संघयण जिसके उदय में हो, (हमारे जैसे जीव) ऐसे जीवों को यदि थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीयकर्म उदय में हो तो उनमें उस समय दुगुना, तिगुना बल भी बढ़ जाता है। **स्त्याना संघातीभूता गृद्धिर्दिनचिन्तितनार्थसाधनविषयाऽभिकाङ्क्षायस्याम् सा स्त्यानगृद्धि। प्राकृतत्वात् "थीणद्धी" इति निपातः ॥**

प्रथम कर्मग्रन्थ में "थीणद्धि" शब्द की व्युत्पत्ति उपरोक्त प्रकार से की गई है। "थीणद्धि" शब्द प्राकृत में है। वह निपात सिद्ध है। इसे संस्कृत में सत्यानर्द्धि या सत्यान-गृद्धि कहते हैं।

थीणद्धि निद्रा के कुछ दृष्टांत—

बिशेषावश्यक भाष्य नामक महाग्रन्थ में थीणद्धि निद्रा के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टान्त बताए, गए है। जिसमें प्रमुख रूप से—१, मांसभक्षक, २. मोदकभक्षक, ३ हाथीमारक ४. कुम्हार ५. वटवृक्ष की शाखा तोड़ने वाला आदि विषयक दृष्टांत दिए हैं।

(१) मांसभक्षक—

एक गाव था। इसमें "कणवी" जाति का एक मनुष्य रहता था। वह मांस-भक्षी था। मांस खाने में बहुत ही ज्यादा लुब्ध था। कच्चा-पक्का कैसा भी मांस खा जाता था। एक बार की बात है, त्यागी तपस्वी जैन साधु गांव में पधारे। जैन साधु महाराजों ने कुछ दिन उस गांव में रहकर धर्मोपदेश दिया। लोगों को शराब-मांसादि

सात व्यसन छुड़वाये । इस प्रसंग पर कणबी जाति का वह मनुष्य भी प्रभावित होकर मांसहार आदि छोड़कर शुद्ध शाकाहारी बना । साधु सन्तों के सत्संगसमागम में ज्यादा रहकर उस मनुष्य ने संसार का त्याग कर दिया, और सर्वपापों को छोड़कर जैन दीक्षा अंगीकार करके साधु बन गया । साधुत्व का पालन करते हुए साधुओं के साथ यात्रा विहारादि करता रहा ।

एक बार ऐसा हुआ कि जंगल जाने के हेतु वे बाहर गए । मार्ग में कुछ मांसलुब्ध कसाई लोगों को एक भैंस के पाड़े को काटते हुए देखा । यह दृश्य देखते ही उस साधु के मन में भी पूर्वकाल के मांस खाने के संस्कार स्मृतिपटल पर उपस्थित हो गए और मांस खाने की तीव्र इच्छा हो गई । वे अपनी साधुता को याद करके वहां से हटकर जल्दी ही उपाश्रय में आ गए, परन्तु इच्छा का जोर बढता ही गया । रात्रि को उसी विचार में सो गए । उनको थीणार्द्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का भारी उदय उसी रात को हुआ । रात्रि में उठकर निद्रावस्था में ही गांव के बाहर गये । गाँव बाहर भैंसों के झुण्ड में जाकर, भैंस के एक पाड़े को मार डाला और उसका मांस खाने बैठ गये । खूब माँस खाकर, कुछ साथ में लेकर उपाश्रय में आकर सो गए । रात्रि बीत गई, प्रातःकाल में अन्य सभी साधु उठे, वह भी उठा, उसके हाथ और कपड़े खून से लथपथ देखकर अन्य साधुओं ने उससे पूछा अरे ! तुमने यह क्या किया है ? साधु होकर ऐसा किया जाता है ? उसने साफ ना कह दिया, मैंने कुछ भी नहीं किया है, और मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ । परन्तु साथ लिया हुआ मांस जो उपाश्रय में छिपाया था, वह भी अन्य साधुओं ने ढढ निकाला, और उसे अपराधी घोषित किया । ज्ञानी गुरुभगवंत ने ऐसा जानकर कि यह थीणार्द्धि-निद्रा नामक दर्शनावरणीय का दोष है, उसे साधुपने से निकाल दिया ।

(२) मोदक भक्षक—

कुछ साधुगण विहार करते हुए एक गाँव में आये । भिक्षा के लिए एक साधु गृहस्थों के घर में गया । उस गृहस्थ के घर में एक बड़े थाल में अच्छे सुन्दर लड्डू रखे हुए थे । कई लड्डू होने पर भी उस गृहस्थ ने एक भी लड्डू मुनि को भिक्षा में नहीं दिया । उस साधु की लड्डू खाने की तीव्र आसक्ति थी । उपाश्रय में आकर दिनभर लड्डू खाने का ही विचार करता रहा । इसी चिन्ता में रात्रि में सो गया । थीणर्द्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के भारी उदय से वह साधु मध्यरात्रि में उठकर उस लड्डू वाले गृहस्थ के घर गया । द्वार तोड़कर, घर में घुसकर उसने खूब लड्डू खाये । शेष बचे हुए लड्डू अपने पात्र में लेकर उपाश्रय आकर पुनः सो गया ।

प्रातःकाल सभी साधु उठे। लड्डू खाने वाला साधु भी उठा, पर मानों उसे कुछ भी याद नहीं हो इस तरह वह अपनी नित्य क्रिया करने लगा। अपने गुरु को जाकर कहा कि मैंने आज ऐसा स्वप्न देखा है, परन्तु अन्य साधुगण वस्त्र-पात्र आदि की प्रतिलेखन क्रिया करने लगे, तब एक पात्र में खूब लड्डू देखे। सबके बीच यह भारी आश्चर्य प्रकट हुआ, काफी पूछपरख की, परन्तु कोई सत्य प्रकट नहीं हुआ। आखिर गुरु ने उसके स्वप्न के आधार पर थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का भारी उदय समझकर उसे दीक्षा से निकाल दिया।

(३) हाथी मारक—

साधुमंडलीमां रहे रे, एक लघु अणगार;
थीर्णाद्ध निद्रावशे रे, हणियो हस्तीमहंत;
सूतो भर निद्रावशे रे, भूतलीये दोय दंत॥
अंग अशुचि शिष्यनु रे, संशय भरियो साध;
ज्ञानी वयणे काढीयो रे, हंसवनेथी व्याध॥

एक बार की बात है कि एक छोटे साधु को रास्ते में एक हाथी ने बहुत परेशान किया। घबराकर साधु किसी तरह जान छुड़ाकर भागकर उपाश्रय में आ गए। दिनभर उनमें हाथी के प्रति बड़ा भारी क्रोध चलता रहा। इसी क्रोध के विचार में रात को सो गये। थीणद्धिनिद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के भारी उदय से वह साधु उठकर नगर के बन्द द्वार तोड़कर गांव के बाहर उस हाथी के पास गये। वज्रऋषभनाराच नामक प्रथम संघयण वाले उन्होंने थीणद्धि निद्रा के उदय में अर्ध चक्रवर्ती अर्थात् तीन खण्ड के मालिक वासुदेव के अर्ध बल जितनी शक्ति से उस हाथी के दोनों दांत खींचकर निकाल डाले, और दांतों से ही प्रहारकर हाथी को मार डाला। शेष रात्रि में लौटते समय उपाश्रय के बाहर ही दोनों दांत रखकर अन्दर आकर अपने संथारे पर सो गए। प्रातः उठकर गुरु के पास जाकर कहा कि आज मेंने ऐसा स्वप्न देखा है। कुछ देर में सभी साधु विहार के लिए निकले। बाहर निकलते ही जब हाथी के दोनों दांत देखे तब शंका पड़ी। गुरु ने सभी साधुओं को पूछा, किसी ने भी कोई जवाब नहीं दिया। गाँव के बाहर जाते ही उस साधु के उपकरण दिखाई दिये। इस प्रमाण से गुरु उस साधु को थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदय वाला जानकर उससे साधुवेश छिनकर निकाल दिया।

(४) कुम्हार का दृष्टांत—

भूतकाल की बात है। एक गांव का कुम्हार एक बार साधुओं के बड़े समुदाय में दीक्षा लेकर साधु बना। काफी समय बाद एक रात्रि को उसकें पूर्वोपार्जित थीणद्धिनिद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म का बड़ा भारी उदय हुआ जिससे वह मध्य रात्रि को उठकर कुम्हारपने के मिट्टी के कड़े पिण्ड तोड़ने के पूर्व संस्कार याद करके बड़ी प्रबल शक्ति से सोए हुए साथी साधुओं के धडाधड मष्तिक फोड़ने लगा, तथा धड और मस्तक अलग-अलग करके ढेर करने लगा। इतने में अन्य कई साधु जान बचाने के लिए भाग गए। सभी ने तथा विशेषकर गुरु ने उस जीव को थीणद्धि निद्रा कर्म वाला जानकर साधु वेश छीनकर उसे निकाल दिया।

(४) वट-वृक्ष छेदक—

भूतकाल की बात है कि एक साधु विशेष बड़े प्रश्न लेकर अन्य सभी साथी साधुओं की गोचरी (भिक्षा-माधुकरी) लेने के लिए काफी दूर गांव में गए। गोचरी से भरे हुए पात्रों का भार काफी बढ़ चुका था। तेज धूप की मध्यान्ह में लौटने से पैर जलने आदि तीव्र गरमी के कारण व्याकुल होकर जल्दबाजी में एक वटवृक्ष की छाया के नीचे गए। दुर्भाग्यवश उस घने वटवृक्ष की एक मोटी ज्यादा भार वाली शाखा काफी नीचे झुकी हुई थी। वह जल्दबाजी में आते हुए उन साधु के सिर में लगी। मस्तक पर भारी चोट आई। किसी कदर भिक्षा लेकर उपाश्रय पहुंच गए। दिनभर उसी दृश्य को याद करते हुए क्रोधातुर एवं चिन्ताग्रस्त रहे। क्रोध और चिन्ता में ही सो गए। मध्यरात्रि में थीणद्धि नामक दर्शनावरणीय कर्म के महा भयंकर उदय से उठकर उस वटवृक्ष के नीचे जाकर झुकी हुई उस मोटी शाखा को खींचकर तोड़ डाली, और दूर फेंकने के हेतु से घसीटकर खींचते हुए ले गए, परन्तु वह रास्ता उपाश्रय की तरफ ही जा रहा था। अतः उपाश्रय के बाहर ही उस शाखा को फैंककर अपने संथारे में आकर सो गए। सुबह उठकर गुरु को कहा कि मुझे आज ऐसा स्वप्न आया है। परन्तु उपाश्रय के बाहर जाते ही गुरु ने टुटी हुई वट-वृक्ष की शाखा को देखकर उस साधु को थीणद्धि निद्रा कर्म वाला जानकर साधुवेश छीनकर समुदाय से निकाल दिया।

पुत्रवधू का दृष्टांत—

षट् मासे निद्रा लहे रे, शेठवधू दृष्टांत।

एक सेठ के घर में पुत्र वधू को थीणद्धि निद्रा आती थी। एक बार थीणद्धि निद्रा के समय वह मध्य रात्रि में उठकर घर में से सोने-चाँदी के सभी आभूषणों का

डिब्बा लेकर गांव के बाहर जंगल में गई। अकेली पुत्रवधू ने पत्थर की एक बड़ी भारी शिला को हटाकर आभूषणों का वह डिब्बा जमीन में गाड़ दिया। पुनः उस पत्थर की शिला को खींचकर उस पर ढक दी, और घर आकर बिस्तर में सो गई।

दूसरे दिन शादी के प्रसंग में जाना था। अतः पुत्रवधु अलमारी खोलकर आभूषण पहनने गई, परन्तु आभूषणों का डिब्बा न देखकर सिर पीटकर चिल्लाती हुई रोने लगी। पति, सास, श्वसुर आदि सभी ढूँढने लगे, परन्तु वह डिब्बा किसी को कहीं भी नहीं मिला/पुत्रवधु ने रो-रो कर दिन बिताये और अपने पति से कहने लगी कि आप मेरी ऐसी क्रूर मजाक क्यों करते हैं ? आपने ही कहीं छुपाया होगा। लाइये, दे दीजिये। इस तरह आरोप-प्रत्यारोपों में ६ महीने बिताए।

हुआ ऐसा कि छः महीने बाद पुत्रवधु को थीणद्धि निद्रा वापिस आई। पहले की भांति पुनः रात्रि में उठकर पुत्रवधु जंगल में गई, और पत्थर की उस शिला को हटाकर आभूषणों का डिब्बा लेकर, फिर पत्थर की शिला को पूर्ववत् रखकर, घर आकर आभूषणों के डिब्बे को आलमारी में रखकर सो गई। दूसरे दिन आलमारी में उस डिब्बे को देखकर खुश होती हुई पति, श्वसुरादि सबको दिखाकर पूछने लगी कि इसे छिपाने की मजाक किसने की थी ? सभी आश्चर्यचकित होकर "किं कर्तव्य-मूढ़" बने हुये थे। एक वार महा ज्ञानीमुनि भगवंत के आगमन पर सेठ ने इस घटना के बारे में पूछा। ज्ञानी महाराज ने कहा कि—यह थीणद्धि निद्रा के कारण होता है। सेठ ने पुत्रवधू को अपने घर से निकालकर मांयके भेज दी।

ट्रक भरकर खींच लिया—

वर्तमान काल की बात है कि एक जगह एक मकान बनने का काम चल रहा था। निरीक्षकों ने मजदूरों को हुकम दिया कि कल सुबह एक ट्रक पत्थर पहाड़ी से लाकर यहां डाल देना। हां कहकर छुट्टी होते ही शाम को सभी मजदूर निकल गए। एक मजदूर ने धर आकर जल्दी सोते हुए अपनी पत्नी को कहा कि मुझे सुबह जल्दी उठाना, पत्थर भरने जाना है। ऐसा कहता हुआ उस विचार में सो गया। थीणद्धि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदयवाला वह मजदूर मध्यरात्रि में उठा, नींद में ही वह ट्रक लेकर पहाड़ी प्रदेश में पहुँच गया। अन्य कोई मजदूर नहीं आये थे। अतः उसने अकेले ने ही बड़े-बड़े पत्थरों को उठाकर ट्रक भर दिया। जिन पत्थरों को चार जने मिलकर भी न उठा सकते थे उन्हें वह अकेला उठाकर ट्रक भरता

गया। ट्रक भर जाने पर अकेला ही उस भारी ट्रक को मकान पर ले गया, और वहां खाली करके घर आकर बिस्तर में सो गया। सुबह जब पत्नी उठाने गई तब सारा शरीर पसीने में तर था, एवं भारी गरमी के कारण मानों खौल रहा था। नींद से उठकर जल्दबाजी करता हुआ तैयार हो रहा था। इतने में पत्नी ने पूछा कि आप रात में इतनी देर तक कहां गये थे? पति ने इसका कुछ भी जवाब न देते हुये कहा "मुझे जल्दी काम पर जाना है, अतः इस समय देरी मत कर, मुझे जाने दे।" इतना कहकर घर से निकल गया और शीघ्र ही काम पर पहुँच गया। सभी मजदूर इकट्ठे हुये थे और यह चर्चा कर रहे थे कि पत्थर का यह ट्रक यहां कौन ले आया है? सभी इन्कार कर रहे थे कि इतने में चौकीदार ने उस मजदूर का नाम बताते हुये कहा यह मजदूर रात को ले आया था। इस प्रकार थीणद्धि निद्रा में वह मजदूर दुगुनी, चौगुनी शक्ति से काम कर रहा था।

वीरविजयजी महाराज दर्शनावरणीय कर्म की पूजा की ढाल में कहते हैं कि—

दिन चिंतित रात्रे करे रे, करणी जे नरनार।
बलदेव नु बल ते समेरे, नरक गति अवतार॥

अर्थात् थीणद्धि निद्रा के उदय से ऐसे कार्य जो भी कोई करते है, भले ही वे बलदेव के बल जितनी शक्ति से करते हों, परन्तु वे नरक गति में जाते हैं। इस तरह थीणद्धि निद्रा बहुत ही खराब होती है। जीव को नरकगामी बनाती है।

निद्रा से नुकसान—

पूर्वधर मुनि दुर्गति में गये।

महान् विद्वान् पूज्य आचार्यदेव के भानुदत्त नामक मुनि अच्छे शिष्य थे। आचार्य महाराज ने खूब परिश्रम से उन्हें १४ पूर्व (धर्मशास्त्रों) का अभ्यास कराया। इस तरह भानुदत्त मुनि भी १४ पूर्वधारी महान् विद्वान् बने। नीतिकार कहते हैं कि लक्ष्मी और विद्या होने के बाद सम्भालनी बड़ी मुश्किल होती है। भानुदत्त मुनि जो कि पूर्वधर महात्मा थे, उन्हें भी प्रमाद आ गया। निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का उदय बढ़ता ही गया। फलस्वरूप सूर्यास्त होते ही सिर पर नींद सवार हो जाती थी, आंखे घेरने लगती थी। गुरुदेव उन्हें बारबार जगाकर सावधान करते हुये कहते थे कि हे पूर्वधर मुनि! पूर्वों की पुनरावृत्ति कर लो, वरना भूल जाओगे परन्तु

निद्रा के उदय से प्रमादग्रस्त बने हुये भानुदत्त मुनि गुरु की हित शिक्षा के बावजूद भी क्रोधित हो जाते थे और पूर्वों की पुनरावृत्ति नहीं हो पाती थी। इस तरह काल बीतता गया। शिष्य को क्रोध करते हुये देखकर गुरु ने कहना ही छोड़ दिया। अब कौन कहे? कौन जगाए? प्रमाद और निद्रा इतना बढ़ी कि सारा प्रतिक्रमण भी नींद में ही बीतने लगा। कब प्रतिक्रमण शुरू हुआ और कब पूरा हुआ? तथा कब क्या बोल गया? और कब कौन क्या बोले? उन्हें कुछ भी पता नहीं चलता था। इस तरह दिन-रात, निद्रा और प्रमाद में बीतने लगे। भानुदत्त मुनि सब कुछ भूल गये। पढ़ा-पढ़ाया सब चौपट हो गया और अन्त में वे मरकर दुर्गति में गये। कितना बड़ा भारी नुकसान इस निद्रा ने किया कि पूर्वधर जैसे महाज्ञानी महात्मा को भी दुर्गति में फैंक दिया, तो सोचिये! हमारे जैसे प्रमादिओं की क्या दशा होगी। इस बात को संबोध सित्तरी प्रकरण में कहते हुए लिखा है कि—

जइ चउदसपुव्वधरो, वसइ निगोएसु णंतय कालं।
निद्दापमायवसगो, ता होहिसी कहं तुमं जीव ॥

यदि निद्रा-प्रमाद के वश होकर १४ पूर्वधर महापुरुष भी गिरकर दुर्गति-निगोद में चले जाते है और बहुत लम्बे काल तक उन्हें बहां रहना पड़ता है तो हे जीव! तेरे जैसे का क्या होगा? इसका विचार आज से ही कर। वास्तव में निद्रा आलस-प्रमाद से बचना बहुत आवश्यक है। भगवान महावीरस्वामी इन्द्रभूति गौतम जैसे अप्रमत्त आद्यगणधर को भी जागृत करते हुए बारबार कहा करते थे कि "**गोयमा! समयं मा पमायए।**" हे गौतम! एक समय मात्र भी प्रमाद मत करना।

दर्शनावरणीय कर्मबंध के कारण—

कर्मशास्त्र में ८ कर्मों के भिन्न-भिन्न प्रकार के बंध–हेतु बताए गए हैं। कर्म शुभाशुभ प्रवृत्ति से बनते हैं। अशुभ पाप प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का बंध होता है, और शुभ-पुण्य प्रवृत्ति से शुभ कर्म का बंध होता है। पाप-अशुभ कर्म फलतः दुखदायी होता है। अतः पुण्य–शुभ कर्म फलतः सुखदायी होता है। अतः कर्म के शुभ और अशुभ ये दो भेद होते हैं। जीव जन्म-जन्मांतर में जैसी

शुभाशुभ प्रवृत्ति करता है, वैसे शुभ-अशुभ कर्मों का बंध होता है। बिना किसी राग-द्वेषादि की प्रवृत्ति के कोई कर्म नहीं बंधता है। प्रस्तुत प्रकरण में दर्शनावरणीय कर्म का विचार चल रहा है। अतः यहां दर्शनावरणीय कर्म कैसी पाप प्रवृत्ति से बंधता है, क्या करने से निर्माण होता है, यह जानना बहुत जरुरी है, क्योंकि बिना जाने हम उनका क्षय एवं संवर भी कैसे कर सकेंगे ? जिसका जो कारण होता है, उस कारण का नाश करने से कार्य भी नष्ट हो जाता है। जैसे आग को बुझाने से धुआं भी नष्ट हो जाता है, बांध के द्वार बन्द कर देने से पानी का आगमन भी बन्द हो जाता है, वैसे ही कर्म के आगमन रूप जो आश्रवद्वार के हेतु है, उनको यदि बंद किया जाय तो कर्मों का नया निर्माण होना भी बन्द हो जाता है। कर्मशास्त्र ग्रन्थ में दर्शनावरणीय कर्म बन्ध के आश्रव निम्न प्रकार बताए गए हैं।

पडिणी अत्तण निन्हव–उवघायपओसअंतराएणं ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जिओ जयइ ॥
[कर्मग्रन्थ–१]

तत्प्रदोष–निह्नव–मात्सर्या-ऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।
[६–११]

१. प्रत्यनीक, २. निह्नव, ३. उपघात, ४. प्रद्वेष, तथा ५. अन्तराय, ६, मात्सर्य आदि मुख्य रूप से ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय दोनों कर्म बन्ध के आश्रव द्वार हैं।

(१) **प्रत्यनीकत्व**—शत्रुता की वृत्ति से या वैमनस्य भाव की तरह सर्वथा अनिष्ट आचरण करने वाला प्रत्यनिक कहलाता है अर्थात् ज्ञानी महात्माओं से प्रतिकूल आचरण करता है।

(२) **निह्नव** अपलाप करना–छिपाना। जिनके पास अभ्यास करके पढ़ा हो उनका नाम व्यवहार में छिपाना कि मैं कहां इनके पास पढ़ा हूँ ? किसी अन्य को ही अपना गुरु बताना, यह निह्नवपना है। अथवा जिज्ञासा भाव से पूछने–समझने आए हुए को भी कहना कि "मैं कुछ नहीं जानता हूँ", "मुझे मालुम नहीं है।" इत्यादि वृत्ति निह्नवपना है।

(३) **उपघात**—गुर्वादिक का घात करना, अपलाप करना, या प्रशस्त ज्ञान-ज्ञानी विगेरे में दोष न होते हुए भी दोष लगाना यह उपघात है। अर्थात् शुद्ध प्ररूपणा में भी अपनी विपरीत मति से दोष लगाना यह अपघात कहलाता है। ज्ञानी के वचनों को असत्य मानना, ज्ञानी को सहायता न करना, ज्ञान के साधनों का नाश करना आदि उपघात प्रवृत्ति है।

(४) **प्रद्वेष**—ज्ञानी, विद्वान-गुर्वादिक महापुरुषों पर द्वेष बुद्धि धारण करना, द्वेष वृत्ति से व्यवहार करना, तत्त्वज्ञान एवं प्रवचनादि में अरुचि दिखाकर मुंह बिगाड़ना तथा अभ्यास आदि से ऊब जाना, एवं किसी ज्ञानी विद्वान की प्रशंसा आदि सहन न होने पर उनके प्रति द्वेष बुद्धि रखना यह प्रदेषबृत्ति है।

(५) **अन्तराय**—किसी को पढ़ने में विघ्न करना, पढ़ने न देना, ज्ञानोपकरण आदि के विषय में भी विघ्न करना, पढते हुए को उठाकर अन्य काम में लगाना, किसी के स्वाध्ययादि में विक्षेप डालना, पवचनादि में विघ्न करना आदि प्रवृत्ति अन्तराय कहलाती है।

(६) **मात्सर्य**—अर्थात् ईर्ष्या रखना। पढ़ने आए हुए के प्रति अरे ! यह पढ़कर मेरे से भी ज्यादा होशियार हो जाएगा, मेरे से आगे बढ़ जायेगा, ऐसी ईर्ष्या तथा ज्ञान प्रदान न करने की कलुषितवृत्ति आदि को तथा ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण आदि के प्रति ईर्ष्यावृत्ति को मात्सर्य भाव कहते हैं। इस तरह ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञानोपकरण एवं दर्शनी, दर्शनोपकरण आदि की आशातना करना, अपलाप करके अवर्णवादादि–निन्दा करना, अपमान करना, ज्ञानी के प्रतिकूल वर्तन, ज्ञानी के वचन पर श्रद्धा न रखना, ज्ञानादि का अभिमान करना, अकाल में अध्ययन करना, अभ्यास में प्रमाद करना, शक्ति होते हुए भी न पढ़ना, अनादर करना, मिथ्या उपदेश देना, शास्त्र-सूत्र विरुद्ध बोलना, अर्थोपार्जन हेतु ज्ञान बेचना आदि मुख्य रूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय दोनों कर्म बांधने के मुख्य आश्रव द्वार–या बन्ध हेतु है।

दर्शनावरणीय कर्मबंध की स्थिति—

उपरोक्त बताए हुए कर्मबंध के आश्रव हेतुओं से अशुभ-अशुभतर-अशुभतम परिणाम एवं कषायों की तीव्रता और मंदता तथा शुभाशुभ लेश्याओं आदि के आधार पर जैसी पाप प्रवृत्ति करके जो कर्म उपार्जित किया जाता है उनकी जघन्य तथा उत्कृष्ट बंध स्थिति इस प्रकार पड़ती है ।

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य परा स्थितिः ।।८–१६।।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय तथा अन्तराय इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोटा-कोटि सागरोपम है तथा कम से कम—न्यूनतम-जघन्यस्थिति १२ अर्न्तमुहूर्त है । इतनी उत्कृष्ट स्थिति अबाधकाल ३००० वर्ष का रहता है ।

देशघाती-सर्वघाती प्रकृतियाँ—

दर्शनावरणीय कर्म चार घाती कर्मों के विभाग में दूसरा घाती कर्म कहलाता है । अतः इसकी नौ ही कर्म प्रकृतियां घाती प्रकृतियाँ कहलाती हैं ।

दर्शनावरणीय कर्म की ९ घाती प्रकृतियाँ

- (१) देशघाती-४
  - चक्षुदर्शनावरणीय
  - अचक्षुदर्शनावरणीय
  - अवदिदर्शनावरणीय
  - केवलदर्शनावरणीय
- (२) सर्वघाती-६
  - केवलदर्शनावरणीय
  - निद्रादि-५

दंसण तिग देशघातियाँ, केवलदर्शन एक ।
सर्वघाती ए दाखीओ, वादल मेघ विवेक ।।

इस तरह तीन देशघाती कर्म प्रकृतियाँ है जो आत्मगुण का सर्वांश-सर्वथा घात नहीं करती हैं। परन्तु केवलदर्शनावरणीय तथा ५ निद्रा ये ६ ही सर्व घाती प्रकृतियाँ हैं जो आत्मा के दर्शनगुण का सर्वथा-सर्वांशिक घात करती हैं।

चारों ही दर्शन की चार कर्म प्रकृतियां चक्षुदर्शनावरणीय आदि सभी ध्रुवोदयी है तथा ५ निद्रा आदि अध्रुवोदयी प्रकृतियाँ हैं।

बन्धोदय सत्ता ध्रुवा, पयडी नव तिम पंच।
निद्रा अध्रुवोदयी कही, सर्वघाती पण पंच ॥

दर्शनावरणीय कर्म की नौ ही कर्म प्रकृतियाँ ध्रुवबंधी, तथा ध्रुव सत्तावाली हैं। यह बंध, सत्ता, उदय एवं घाती आदि का विचार किया गया है, जिससे यह पता चलता है कि कौनसी कर्म प्रकृति कैसी है।

गुणस्थानकों में बंध-उदय-सत्तादि—

चक्षुदर्शनावरणीयादि चार दर्शन चतुष्क की ४ कर्म प्रकृतियाँ सूक्ष्मसंपराय-नामक दशवें गुणस्थानक पर बध में से जाती हैं। स्त्यानर्द्धित्रिक-(थीणद्धि-त्रिक) का पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक पर ही बंध होता है। बाद में आगे नहीं होता है। निद्रा और प्रचलाद्विक आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानक पर बंध में से चली जाती हैं। तथा चक्षुदर्शनावरणीयादि चारों प्रकृतियाँ उदय उदीरणा और सत्ता में से १२ क्षीणमोह गुणस्थानक पर चली जाती है। तेरहवें सहयोगी केवली गुणस्थानक पर आते मोहनीय के क्षय के बाद ज्ञानावरणीय, अन्तराय के साथ दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। अतः सर्वज्ञ केवली वीतराग भगवान केवलदर्शनी सर्वदर्शी तथा अनिद्रालु-सर्वथा निद्रारहित बन जाते हैं। ऐसे केवलज्ञानी-केवलदर्शनी, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु को आयुष्य की अन्तिम समाप्ति तक के शेष जीवन में नाममात्र भी निद्रा लेने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः केवली केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के बाद बिल्कुल नींद नहीं लेते हैं। उसी तरह इन्द्रियों से देखना-जानना आदि व्यवहार करने की भी

कोई अनिवार्यता नहीं रहती है । आंखें खोलकर न भी देखें तो भी चलता है, क्योंकि सर्वावरण रहित केवलज्ञान-दर्शन पूर्ण-सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो चुका है । अत: बिना चक्षुआदि इन्द्रियों के सभी पदार्थ, सारा जगत, लोक-अलोक आदि स्पष्ट दिखाई देता है । फिर भी व्यवहार से जो इन्द्रियां हैं उनकी क्रिया चलती रहती हैं ।

भगवान महावीर की नाममात्र नींद—

चरम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी भगवान का जीवन चरित्र जो शास्त्रों में उपलब्ध है, उसमें महापुरुषों ने एक विशेष बात ऐसी लिखी है कि भगवान महावीरस्वामी ने ३० वर्ष की आयु में दीक्षा ली, एवं १२॥ वर्ष तक छमस्थ अवस्था के काल में अग्रतम घोर तपश्चर्या की है । उस काल में मात्र दो घड़ी अर्थात ४८ मिनिट ही नीद ली है । १ ॥ वर्ष के काल में सिर्फ कुल ३४९ दिन ही आहार लेने के हुए है, और शेष दिन उपवासादि की तपश्चर्या के हुए है । १२॥ वर्ष की तपश्चर्या के काल में उनकी ध्यान साधना एवं विहार आदि भी उग्रतम रहे हैं । शास्त्रकार महर्षि लिखते है कि **"भूमि न ठाया हो जिननी"** भगवान १२॥ वर्ष के काल में पालखी लगाकर जमीन पर बैठे तक नहीं, एवं नींद भी नहीं ली । एक बार खड़े-खड़े प्रमादवश मात्र दो घड़ी = ४८ मिनट नींद आ गई । वह भी यक्ष के उपसर्ग के बाद थकने के कारण ही । यह भगवान के जीवन की अन्तिम नींद थी । अपने छद्मस्थ काल में प्रभु इतने ज्यादा सजग एवं सावधान रहे कि निद्रा कर्म के अधीन भी नहीं हुए । ऊपर से निद्रा के कारणभूत दर्शनावरणीय आदि कर्मों को क्षय करने की साधना में सतत लगे रहे । इस तरह जब दर्शनावरणीय कर्म (नींद) का उदय था तब भी प्रभु ने सावधान रहकर उसे हटाया है, और अन्त में जाकर जब चारों घनघाती कर्मों का क्षय कर दिया तथा उसके परिणामस्वरूप जब केवलज्ञान-केवलदर्शन एवं वीतरागता आदि प्राप्त कर लिए तब नींद का प्रश्न ही नहीं रहा क्योंकि दर्शनावरणीय के सर्वथा-सम्पूर्ण क्षय हो जाने के बाद तेरहवें गुणास्थानक पर नींद कभी भी नहीं आती है । इस तरह ७२ वर्ष के आयुष्य में से तीस वर्ष गृहस्थाश्रम के काल में जितनी नींद ली हो वही उनके जीवन की नींद थी । शेष

४२ वर्ष के चारित्र पर्याय में मात्र छद्मस्थावस्था में दो घड़ी की नींद ही रही और शेष निद्रा के त्याग का काल रहा। यह कितना उच्च कक्षा का आदर्श है ? हमें भी इसमें से बोध लेना चाहिये।

दर्शनावरणीय कर्मजन्य रोगादि स्थिति—

पूर्व में बताए गए दर्शनावरणीय कर्मबंध के आश्रव द्वारों से जीव जिस तरह कर्म बांधता है, उसी तरह वे कर्म उदय में भी आते हैं। कर्मशास्त्र का नियम ही है कि **"जैसा करेंगे वैसा ही भरेंगे"** जैसे पाप किये हैं वैसे ही फल भुगतने पड़ते हैं। जैसा और जितना परीक्षा में लिखा हो वैसा ही फल और उतने ही नम्बर मिलते हैं। पास-फेल का परिणाम उसके आधार पर ही आता है। उसी तरह सुख दुःख का आधार शुभाशुभ कर्मों पर ही है। किसी से उधार लिया हुआ धन समय आने पर चुकाना ही पड़ता है। ठीक उसी तरह बांधे हुए कर्म समय पर भुगतने ही पड़ते हैं। अनेक तरीकों से बांधा हुआ दर्शनावरणीय कर्म उदय में आने पर अनेक तरीकों से दुःखी होकर भुगतना पड़ता है। यह कर्म किस-किस रूप से उदय में आता है ? तथा कैसी स्थिति निर्माण करता है, इसका चित्र पूज्य वीरविजयजी महाराज ने पूजा की ढाल में दर्शाया है।

ए आवरण बले करी, न लह्यु दर्शन नाथ।
नैगम दर्शने भटकीओ, पाणी वलोव्यु हाथ॥

हे प्रभु ! दर्शनावरणीय कर्म के आवरण के कारण मैं आपका दर्शन प्राप्त नहीं कर सका। नैगमनयादि रूप एकान्त दर्शनों में मैं भटकता ही रहा, परन्तु आपका सही दर्शन नहीं पा सका। वास्तव में इस संसार में हाथों से पानी मंथन करने का काम किया जिसमें कुछ भी नहीं मिला।

चक्षुदर्शनावरण कर्म ते, बांधे मूढ गमारी।
काणा निशदिन जात्यंधायणु, दुखिया दीन अवतारी।
दर्शनावरण प्रथम उदये थी, परभव एह विचारी।

अल्प तेज नयनातप देखी, जुए आडो कर धारी ।
जाण पूरबभव कुमतिनी, हजीय न टेव विसारी ।।

जो मूर्ख, अज्ञानी, गंवार, दर्शनावरणीय कर्म बांधता है वह और वैसे प्राणी चक्षु-दर्शनावरणीय आदि कर्म के उदय से जन्मांतर में काणे, रात तथा दिन के अन्धे, जन्मजात अन्धे, दु:खी तथा दीन स्थिति वाले बनते हैं, आंखें बहुत कमजोर होती है, दृष्टि तेज नहीं होती है, धूप में आंखों के सामने हाथ रखकर देखना पड़ता है । इससे ऐसा लगता है कि कुमति जीव पूर्वभव की आदतों को अभी भी नहीं भूले हैं । उसी तरह अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण जीवों को चक्षु अतिरिक्त अन्य चार इन्द्रियां मनादि न्यूनाधिक प्राप्त होते हैं । तथा जो इन्द्रियां प्राप्त होती हैं उनमें भी पूर्णता न रहकर विकलता रहती है । अतः वे रोग जन्य स्थितियां पैदा करती है । एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय के जीवों का चक्षुदर्शनावरणीय कर्म इतना गाढ होता है कि उन्हें चक्षु सर्वथा मिलती ही नहीं है । और चउरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय को चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशमभाव से जो इन्द्रियां प्राप्त होती है उसमें भी यदि क्षयोपशम प्रमाण में कम हो तो मिली हुई इन्द्रियां तेजहीन, कमजोर, विकल, तथा अशक्त प्राप्त होती हैं । अवधिदर्शनावरणीय आदि कर्म के उदय में भी तथा प्रकार के क्षेत्रादि तक रूपी पुद्गल पदार्थों के देखने की शुद्धि नहीं रहती है । अवधिदर्शनावरणीय एवं केवलदर्शनावरणीय कर्म के सम्पूर्ण रूप से उदय में रहने से आत्मा का अवधिदर्शन एवं केवलदर्शनगुण सर्वथा ढका हुआ दबा हुआ रहता है । केवलदर्शनावरणीय कर्म प्रकृति वैसे भी सर्वघाती होने से सर्वथा उस गुण को ढककर रहती है । निद्राओं के उदय के कारण जीवों को अल्पादिक निद्रा-तंद्रा आदि उदय में रहती है । आलस्य-प्रमादादि से जीव ग्रस्त रहते हैं । निद्रा आदि के रोग के कारण पीड़ित रहते हैं । इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की रोगादि की स्थिति बनती है ।

दर्शनावरणीय कर्म क्षय के उपाय—

पूरण दर्शन पामवा, भजिए भवी भगवंत ।
दूर करे आवरणने, जिम जल थी जलकांत ।।

वीरविजयजी महाराज ने पूजा की ढाल में ऐसे दूरंत दर्शनावरणीय कर्म को कैसे खपायें, कैसे इसका नाश करें, इस विषय में काफी लिखा है। कहते है कि अब पूर्ण रूप से दर्शन प्राप्त करने के लिए, हे जिनेश्वर भगवंत ! हम पूर्ण मन से आपकी भक्ति करें जिससे जैसे जलकांत मणि से जल दूर हो जाता है, वैसे ही सर्वदर्शनी भगवंत के दर्शन से मेरे दर्शन का आवरण दूर हो जाएगा—

दर्शनावरण निवारण कारण अरिहाने अभिषेक रे,
नमो रे नमो दर्शनदायक ने

इस दर्शनावरणीय कर्म निवारण के लिए मैं अरिहंत परमात्मा का अभिषेक करूं, और ऐसे दर्शनदायक प्रभु को मैं बारबार नमुं-नमस्कार करता हूँ।

उपदेशक नव तत्वना, प्रभु अंग उदार।
नव तिलके उत्तर नव-पगड़ टालणहार ॥

श्री जिनेश्वर भगवंत ! नवतत्त्वों के उपदेशक है। अतः प्रभु के नौ अंगों पर पूजा करते हुए नौ तिलक करने से दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकार की उत्तर प्रकृतियां नष्ट होती है। अतः प्रभु पूजा-भक्ति कर्म क्षयकारक हैं।

जयणा वंत गुरु आगम पूजो, जिनपडिमा जयकारी।

हे भव्य प्राणियों ! आप जयणा सहित जयवंती जिन प्रतिमा, सद्गुरु और जिन आगम की अच्छी तरह भावपूर्ण पूजा-भक्ति आदि करो जिससे कर्मबंध टूटे, यह कर्म क्षय करने का उत्तम उपाय है।

गुण बहुमान जिनागम वाणी, काने धरी बहुमाने जी।
द्रव भाव बहिरातम टाली, पर भव सजे साने ॥

प्रभु गुण गावे ध्यान मल्हावे, आगम शुद्ध प्ररूपेजी।
मूरख मूंगा न लहे पर भव, न पड़े वली भवकूप ॥

परमेष्ठी ने शिश नमावे, फरसे तीरथ भावेजी।
विनय वैयावच्चादिक करतां, भरतेश्वर सुख पावे ॥

जिमजिम क्षय उपशम आवरणां, तिमगुण आवि भोवेजी।
श्री शुभवीर वचनरस लब्धे, संभिन्न स्रोत जणावे ।।

परमात्मा के गुणों का जो अत्यन्त आदर भाव से सन्मान करे, तथा परमात्मा की "जिनवाणी" प्रवचन का आदर भाव से श्रवण करे; वह प्राणी द्रव्य तथा भाव से बहिरातम भाव को कम या दूर करके जन्मांतर में इशारे में समझ जाए ऐसी चक्षु, कान मनादि इन्द्रियाँ प्राप्त करता है। जो प्राणी प्रभु के गुणगान गाता है, प्रभु का ध्यान धरता है, तथा आगम का शुद्ध प्रतिपादन करता है वह जीव जन्म जन्मांतर में भी मूर्ख, गूंगा बहरा आदि नहीं बनता है, तथा भव कूप में अर्थात् संसार परिभ्रमण चक्र में नहीं गिरता है। जो प्राणी पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को मस्तक झुकाता है अर्थात नमता है, तथा भाव पूर्वक तीर्थ यात्रा आदि करता है, और मुनि भगवन्तों की सेवा, वैयावच्च, शुश्रूषा तथा विनयादि करता है वह भरत चक्रवर्ती की तरह अनेक प्रकार के सुख प्राप्त करता है। (भरत चक्रवर्ती ने पूर्व जन्म में पांच सौ मुनिराजों की विनय-वैयावच्च-सेवा आदि करके चक्रवर्तीपना प्राप्त किया था) जैसे-जैसे अचक्षुदर्शनावरणी आदि दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति का क्षयोपशम बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा के दर्शनगुण का अविर्भाव होता है। श्री शुभवीर महाराज कहते हैं कि परमात्मा के वचन रूप रस में निमग्न-लीन होने से श्रोतादि लब्धियां प्राप्त होती हैं जिससे जीव को सम्पूर्ण शरीर से पांचों इन्द्रियों का बोध होता है।

निद्रा दुग दल छेदवा, करवा निर्मल जात।
अक्षत निर्मल पूजना, पूजो श्री जगतात ।।

दोनों निद्रा के कर्म पुद्गलों का छेदन करने के लिए, तथा आतम भाव को निर्मल करने के लिए, निर्मल अक्षत से जगत के तातरूप प्रभु की अक्षत पूजा करो।

विविध फले प्रभु पूजतां, फल प्रकटे निर्वाण।
दर्शनावरण विलय हुवे, विघटे बंधनां ठाण ।।

विविध प्रकारों के फलों से प्रभु की फल पूजा करते हुए निर्वाण रूप फल प्राप्त हो, और दर्शनावरण कर्म का विलय हो, तथा सभी बंधस्थान नष्ट हों ऐसी भावना रखी है।

इस प्रकार वीतराग प्रभु के धर्म की उपासना विविध रूप से करते हुए हम अनेक तरीकों से दर्शनावरणीय आदि कर्मों का क्षय-उपशम तथा क्षयोपशम आदि कर सकते हैं। इन कर्मों के क्षय से ही अनंतदर्शनादि गुणों का आर्विभाव होता है। हमारे जैसे संसारी छद्मस्थ जीवों को कर्म क्षय के शुभभाव निर्माण हों, और "**सव्व पावप्पणासणो**" सर्व पाप कर्मों के नाश की दिशा में अग्रसर होते हुए हम आत्मा की शुद्ध-विशुद्ध-सच्चिदानन्द-पूर्णावस्था को प्राप्त करें, पूर्णदर्शनी-अनन्तदर्शनी बनें इसी शुभ मनोकामना के साथ—

सर्वं समाप्तम्।

॥ इति शम् दिशतु ॥

श्री वर्धमान तप संस्था के संस्थापक

प० पू० श्री भायज्ञ सूरिश्वरजी म० सा०

के समुदाय की सा० प० पू० लावण्यश्रीजी

म० सा० की सुशिष्या पू० नयप्रज्ञाश्रीजी

म० सा० की शुभ प्रेरणा से

एक सद्गृहस्थ की ओर से

卐 श्री सुमतिनाथाय नमः 卐

प. पू. मुनिराज श्री अरुणविजयजी महाराज साहेब

आदि मुनि मण्डल के

वि० सं० २०४३ के चातुर्मास में

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ जयपुर द्वारा

सर्व प्रथमबार आयोजित

चातुर्मासिक रविवारीय धार्मिक शिक्षण शिविर

में चल रही

रविवासरीय सचित्र व्याख्यानमाला

卐 "कर्म की गति न्यारी" 卐

विषयक प्रवचन शृंखला की प्रस्तुत यह छठो पुस्तिका

श्री जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ, जयपुर ने

मुद्रित करवाकर प्रकाशित की है।

मुद्रक : अजन्ता प्रिण्टर्स, घी वालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर–302093